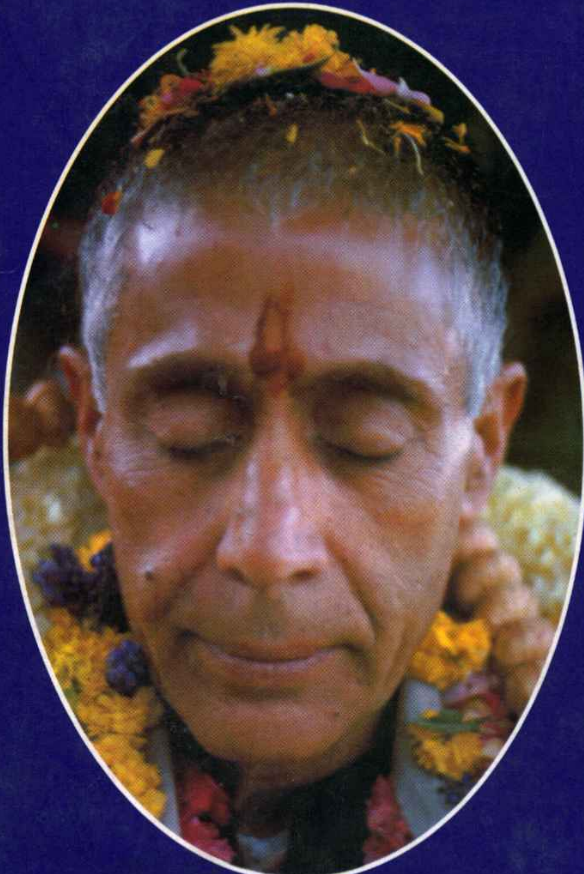
त्रिकशास्त्र रहस्य प्रक्रिया



स्वामी लक्ष्मण जू

ईश्वर आश्रम ट्रस्ट, इशबर, श्रीनगर, कश्मीर

त्रिकशास्त्र रहस्य प्रक्रिया

स्वामी लक्ष्मण जू

ईश्वर आश्रम ट्रस्ट. इशावर, श्रीनगर, कश्मीर

त्रिकशास्त्र रहस्य प्रक्रिया

स्वामी लक्ष्मण जू

ईश्वर आश्रम ट्रस्ट, इशबर, श्रीनगर, कश्मीर

मूल्य : 100 रुपये
मई 2006

दो शब्द

ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मण जू महाराज द्वारा स्वयं अपने कर–कमलों से लिखित "त्रिकशास्त्र रहस्य प्रक्रिया" शीर्षक पुस्तक के इस संस्करण को प्रकाशित करते हुए ईश्वर आश्रम ट्रस्ट को अपार हर्ष का अनुभव हो रहा है।

इस संम्बन्ध में हम इस बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक समझते हैं कि इससे पूर्व, 1994 में, इसी शीर्षक से एक पुस्तक प्रकाशित हो चुकी है जो स्वामी जी द्वारा लिखित मूल पुस्तक का ही शब्दशः मुद्रित रूप है। कहना न होगा कि यह ईश्वर आश्रम ट्रस्ट के विलेख में दिए गये नियमों के स्पष्टतया विरुद्ध है जिनके अनुसार ईश्वरस्वरूप स्वामी लक्ष्मण जू की किसी भी कृति की पांडुलिपि, उनके भाषणों–प्रवचनों के लिखित अथवा सी.डी. रूप अथवा अन्य सामग्री केवलमात्र स्वयं स्वामी जी द्वारा स्थापित इस ट्रस्ट की ही संपत्ति हैं। इस प्रकार की सामग्री का किसी भी अन्य व्यक्ति अथवा संस्था की ओर से प्रकाशन या किसी अन्य रूप में अनधिकृत उपयोग कॉपीराइट नियमों का घोर उल्लंघन है जिसके अपने कानूनी परिणाम हो सकते हैं। ऊपर जिस पुस्तक का उल्लेख किया गया है उसमें स्वामी जी के स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति का नाम संपादक के रूप में दिया गया है। यह एक गंभीर और चिंताजनक विषय है जिस पर कानूनी दृष्टि से विचार हो रहा है।

स्वामी जी के अपने हस्तलेख में "त्रिकशास्त्र रहस्य प्रक्रिया" की मूल पांडुलिपि ईश्वर आश्रम ट्रस्ट के पास एक अमूल्य निधि के रूप में सुरक्षित है। इसी मूल पांडुलिपि की अनुकृति को हम यथावत प्रकाशित कर रहे हैं। पूज्य गुरुदेव के जन्मशताब्दी समारोह के पावन अवसर पर हम इसे उनके भक्तजनों के हाथों में प्रसाद के रूप में दे रहे हैं। हमने इस संस्करण की अलग से कोई भूमिका या प्रस्तावना देना उचित नहीं समझा क्योंकि हमारे विचार से स्वामी जी की कृति होने के नाते इसकी कोई आवश्यकता नहीं।

इंद्रकृष्ण रैणा
- ईश्वर आश्रम ट्रस्ट

ॐ

त्रिकशास्त्ररहस्यप्रक्रिया ।

संपादक

स्वामी लक्ष्मण जी ।

गुप्तगंगा

श्रीनगर , काश्मीर ।

ॐ

तद्देवताविभवभाविमहामरीचि-
चक्रेश्वरायितनिजस्थितिरेक एव ।
देवीसुतो गणपतिः स्फुरदिन्दुकान्तिः
सम्यक्समुच्छलयतान्मम संविदब्धिम् ॥

अगाधसंशयाम्भोधि-
समुत्तरणतारिणीम् ।
वन्दे विचित्रार्थपदां
चित्रां तां गुरुभारतीम् ॥

ॐ

त्रिकशास्त्ररहस्यप्रक्रिया ।

ॐ स्वच्छन्दभैरवाय नमः ।

परमेश्वर का स्वरूप और समस्त शिवशास्त्रों का प्रादुर्भाव

परमेश्वर सदा ही अपने पांच कृत्यों से युक्त हैं, (अर्थात्) वे सदा ही सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान (निग्रह) और अनुग्रह करते रहते हैं। उन का इन पांच कृत्यों का निर्माण तत्त्वदृष्टि से अनुग्रह रूप ही है; यतः जगत् का सृजन, पालन, संहार और निग्रह करना जगत् के अनुग्रह करने के लिये ही होता है। अर्थात् परमेश्वर जगत् का अनुग्रह करने के लिये ही जगत् का सृजन, पालन, संहार और निग्रह करता है। परमेश्वर के स्वरूप में परा - पश्यन्ती - मध्यमा और वैखरी - इन चार वाक्-शक्तियों की विद्यमानता है। स्मरण रहे कि परमेश्वर की चिच्छक्ति और आनन्दशक्ति में परावाक्-शक्ति ठहरी है, इच्छाशक्ति में पश्यन्ती, ज्ञानशक्ति में मध्यमा और उस की क्रियाशक्ति में वैखरी वाक्-शक्ति ठहरी हुई है।

परमेश्वर की परावाक्शक्ति में समस्त शास्त्र ठहरे हुए हैं। जगत् का अनुग्रह करने के लिये वे सभी शास्त्र उनकी पश्यन्ती और मध्यमा वाक्शक्ति में अवतारित होकर उनकी वैखरी वाक्-शक्ति में अवतारित होते हैं। जो शास्त्र तन्त्ररूपता से प्रकट होते हैं। अतः इत्यतः सर्वप्रथम ये सभी शास्त्र उनकी पराशक्ति में ही अवस्थित हैं, जहां उन शास्त्रों का वाच्य-वाचक-प्रपञ्च परिपूर्ण अभेदरूपता से ही ठहरा रहता है। वाच्य अर्थात् शास्त्रों के द्वारा जो प्रतिपाद्य परमेश्वर का स्वरूप है और वाचक, जो

उस स्वरूप का निर्णय करने वाले शब्द हैं, वे दोनों वाच्य और वाचक का प्रपञ्च उस परावाक्-दशा में भिन्नरूपतया विद्यमान नहीं हैं, किन्तु परमेश्वर के स्वरूप में अभिन्नरूपता से ठहरे रहते हैं। तदनन्तर वे सभी शास्त्र परमेश्वर की पश्यन्ती-रूप वाक्-शक्ति में अवतरित होते हैं। उस पश्यन्ती रूप वाक्-शक्ति में यद्यपि सभी शास्त्रों का वाच्यवाचकप्रपञ्च स्वरूपाभिन्न रूपता से ही ठहरा है तथापि वे शास्त्र किंचित् बहिरुल्लासोन्मुख बने हुए जैसे विद्यमान हैं। अतः इस दशा में भी सभी शास्त्रों का वाच्यवाचकप्रपञ्च स्वरूप-तादात्म्य-पूर्वक ही अवस्थित है। इस के पश्चात् ये सभी शास्त्र परमेश्वर की मध्यमा वाक्-शक्ति में अवतरित होते हैं। इस वाक्-शक्ति में सभी शास्त्रों का वाच्य-वाचक-प्रपञ्च यद्यपि भिन्न-भिन्न-रूप से ठहरा है तथापि वह भिन्नभिन्नरूपता भी परमेश्वर की अन्तर्-दशा में ही आभासित होती है। या यूं कहा जाये कि सभी शास्त्रों का वाच्यवाचकप्रपञ्च उस के स्वरूप में ही भिन्नभिन्नरूपता से प्रतीत होने लगता है। तत्पश्चात् ये सभी शास्त्र परमेश्वर की वैखरी-वाक्-शक्ति में प्रसर करते हैं, जहां सभी शास्त्रों का वाच्य-वाचक-प्रपञ्च भिन्न भिन्न रूप से अर्थात् स्फुट रूप से प्रतीत होता है।

स्मरण रहे कि वैखरी वाक् शक्ति में शास्त्रों को प्रकट करने के समय परमेश्वर ने स्वच्छन्द नाथ का स्वरूप धारण किया और उस की चित्-आनन्द-इच्छा-ज्ञान और क्रिया इन पांच शक्तियों से- ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव और अघोर - इन पांच मुखों का प्रादुर्भाव हुआ, जिन मुखों के द्वारा परमेश्वर की परावाक्-शक्ति में स्थित सभी शास्त्र तन्त्रों का स्वरूप धारण करके प्रकट हुए। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि उनके ये पांच मुख उनकी पांच शक्तियां ही हैं अन्य नहीं। कहा भी है-

'*शैवी मुखमिहोच्यते'

* शैवी अर्थात् शक्ति ही मुखं = मुख इह- इस त्रिकशास्त्र के संप्रदाय में मानी गई है।

परमेश्वर के इन्हीं पांच मुखों से इस प्रकार वैखरी-वाक्-शक्ति में प्रसारित होकर ये सभी तन्त्र, द्वैत, द्वैताद्वैत तथा अद्वैत – इन तीन विभागों में प्रकट हुए हैं। द्वैत-तन्त्रों को शिव-तन्त्र कहते हैं। द्वैताद्वैत-तन्त्रों को रुद्र-तन्त्र कहते हैं और अद्वैत-तन्त्रों को भैरव-तन्त्र कहते हैं। कहा भी है—

+ 'तन्त्रं जज्ञे रुद्रशिवभैरवाख्यमिदं त्रिधा।
वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते॥
भेदेन भेदाभेदेन तथैवाभेदभागिना।'

भेदप्रधान शिवतन्त्रों की संख्या दस है। भेदाभेदप्रधान रुद्रतन्त्रों की संख्या अठारह है और अभेदप्रधान भैरव-तन्त्रों की संख्या चौंसठ है। संकलन करके इन तन्त्रों की संख्या बयानवे है। पाठक-जनों को समझना चाहिये कि प्रथम हम जैसा कह आये हैं कि ये सभी बयानवे तन्त्र परमेश्वर की चिदानन्दरूप परावाक्शक्ति में अभिन्न रूपता से ही ठहरे हैं, और फिर स्वातन्त्र्यमयी अनुग्रहशक्ति से ही उनकी वैखरी वाक्-शक्ति में प्रकट होकर इस संसार में अवतरित हुए हैं।

यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि भेदप्रधान तन्त्रों को प्रकट करने के समय स्वच्छन्दनाथ के पांच मुखों ने शिव-रूपता को धारण किया है, तभी तो भेदप्रधान तन्त्रों को शिवतन्त्र का नाम दिया गया है और भेदाभेदप्रधान तन्त्रों को प्रसारित करने के समय इन पांच मुखों ने रुद्ररूपता को धारण किया - [redacted] इत्यतः इन भेदाभेदतन्त्रों को रुद्रतन्त्रों के नाम से अलंकृत किया गया है। कहा भी है—

'......... शिवैरुक्तः शिवाभिधः। ❀
भेदो रुद्रैश्च रुद्राख्य इति भेदो निरूपितः।'

द्वैतप्रधान शिवतन्त्र – कामजतन्त्र, योगजतन्त्र, चिन्त्यतन्त्र, मौकुटतन्त्र, अंशुमत् तन्त्र - इत्यादि कुल दस तन्त्र हैं और भेदाभेद प्रधान तन्त्र:——

+ शिव, रुद्र और भैरव नाम से तीन प्रकार तन्त्रों का प्रपञ्च प्रकट हुआ है, यतः वास्तव में भेद से, भेदाभेद से और अभेद से इस त्रिक-संप्रदाय में उपाय-मण्डल वर्णन किया गया है।

❀ शिवों से कहे गये तन्त्र शिवतन्त्र कहे जाते हैं और रुद्रों के द्वारा वर्णित तन्त्र रुद्रतन्त्र कहे जाते हैं।

उन तन्त्रों को नामकतन्त्र कहते हैं तथा जिन तन्त्रों में ज्ञान तथा क्रिया दोनों का संपुटीकरण है वे मालिनीतन्त्र कहे जाते हैं। इत्यतः सिद्ध हुआ कि द्वैतशास्त्र, द्वैताद्वैतशास्त्र तथा अद्वैतशास्त्र संमिलित हो कर त्रिकशास्त्र कहलाते हैं। कहा भी है—

'दशाष्टादशावस्वष्टभिन्नं यच्छासनं विभोः ।
तत्सारं त्रिकशास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम् ॥ तं० लो०,

अर्थात् दस, अठारह और चौंसठ तन्त्रों में जो परमेश्वर-शास्त्र विभक्त हुआ है, उन सब शास्त्रों का सार त्रिकशास्त्र है और उस त्रिकशास्त्र का सार मालिनी-सिद्धान्त है।

तात्पर्य यह है कि त्रिकशास्त्र परावाक्-दशा में परमेश्वर की चिदानन्दरूपता से ही ठहरे हैं। पश्यन्ती दशा में चिदानन्दरूपता में विकासित होने लगते हैं। मध्यमा दशा में बहिर्भावोन्मुख होते हैं और वैखरी दशा में बाह्य-जगत में पूर्णरूप से विकासित होते हैं।

पूर्वकाल में ये सभी शिव, रुद्र और भैरवशास्त्र ऋषियों तथा आचार्यों के मुख में ही ठहरे रहते थे; उनको पुस्तक रूप में लाने की आवश्यकता नहीं रहती थी, क्योंकि उन की स्मरण-शक्ति प्रबल और अति-तीव्र होती थी, और वे ही अपने शिष्य-जनों को अपना ज्ञान संक्रमण करने में पूर्ण रूप से समर्थ होते थे। किन्तु कलियुग के आने पर वे सभी ऋषि-मुनि कलियुग का अन्धकारमय वातावरण देख कर अति-दुर्गम-स्थानों में चले गये और इस के फल-स्वरूप इन तन्त्रों का अथवा त्रिक-शास्त्रों का संप्रदाय, गुरु-शिष्य-परम्परा के न रहने से लुप्त हुआ। कहा भी है—

†'शैवादीनि रहस्यानि पूर्वमासन्महात्मनाम् ।
ऋषीणां वक्त्रकुहरे तेष्वेवानुग्रहक्रिया ॥
कलौ प्रवृत्ते यातेषु तेषु दुर्गमगोचरम् ।
कलापिग्रामप्रमुखमुच्छिन्ने शिवशासने ॥'

किन्तु जैसा हम कह आये हैं, भगवान् शंकर सदैव अनुग्रहमय हैं, कैलास-पर्वत पर श्रीकण्ठनाथ की मूर्ति को धारण करके अवतारित हुए और वहीं ऊर्ध्वरेता भगवान् दुर्वासा ऋषि का आवाहन करके उन्हें यह आदेश दिया कि वे इस रीति से

† पहिले पहिले तो महात्मा ऋषियों के मुख में ही शिवशास्त्रों का रहस्य ठहरा रहता था, पर कलियुग के आने पर वे सभी ऋषि दुर्गम स्थानों में चले गए। फलतः शिवशास्त्रों का संप्रदाय पूर्ण रूप से लुप्त हो गया।

शिवशास्त्रों का पुनरुद्धार करें जिस से यह शिवशास्त्र इस संसार में पूर्ण रूप से स्थापित रहे। इस प्रकार जब दुर्वासा ऋषि ने श्रीकण्ठनाथ की आज्ञा प्राप्त की तो उन्हों ने अपने योग-बल से तीन मानसिक पुत्रों को उत्पन्न किया ; जिनके नाम ये हैं – त्र्यम्बकनाथ, आमर्दकनाथ और श्रीनाथ। भगवान् दुर्वासा ऋषि के द्वारा त्र्यम्बकनाथ ने सभी अद्वैत-प्रधान भैरव-शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया। आमर्दकनाथ ने उसी ऋषि के द्वारा द्वैत-प्रधान समस्त शिवशास्त्रों का ज्ञान प्राप्त किया और श्रीनाथ ने भगवान् दुर्वासा ऋषि के द्वारा द्वैताद्वैत-प्रधान समस्त रुद्रशास्त्रों का रहस्य प्राप्त किया। इधर अद्वैत भैरव-शास्त्र के प्रवर्तक त्र्यम्बकनाथ ने अपने योगबल से एक मानसिक पुत्री को उत्पन्न किया, जो अर्धत्र्यम्बकशाखा नाम से आज भी प्रसिद्ध है। ये दो शाखायें – त्र्यम्बकशाखा और अर्धत्र्यम्बक-शाखा अद्वैत-प्रधान भैरवशास्त्रों की ही शाखायें हैं। तात्पर्य यह है कि आदि-काल में त्रिकशास्त्रों की शाखायें – त्र्यम्बकशाखा, अर्धत्र्यम्बकशाखा, आमर्दकशाखा और श्रीनाथ-शाखा – इस प्रकार साढे तीन शाखाओं में ही प्रादुर्भूत हुई हैं। कहा भी है –

> "* श्रीमच्छ्रीकण्ठनाथाज्ञावशात्सिद्धा अवातरन्।
> त्र्यम्बकामर्दकाभिख्यश्रीनाथा अद्वये द्वये॥
> द्वयाद्वये च निपुणाः क्रमेण शिवशासने।
> आद्यस्य चान्वयो जज्ञे द्वितीयो दुहितृक्रमात्॥
> स चार्धत्र्यम्बकाभिख्यः सन्तानः सुप्रतिष्ठितः॥
> अतश्चार्धचतस्रोऽत्र मठिकाः सन्ततिक्रमात्॥"

इत्यादि। कालान्तर में त्र्यम्बकनाथ ने इन भैरवशास्त्रों का संप्रदाय जीवित रखने के लिए एक मानसिक पुत्र को उत्पन्न किया और उस को भैरव-शास्त्रों का ज्ञान प्रदान किया। इस प्रकार चौदह पीढियों तक त्र्यम्बकनाथ की शाखा से चौदह सिद्ध उत्पन्न हुए, जो मानसिक योगद्वारा उत्पन्न हुए थे। ये सभी सिद्ध भैरव-शास्त्रों के मर्मज्ञ थे और उन शास्त्रों में पूर्णरूपतया निष्णात और सिद्ध-हस्त थे। इस के पश्चात् पंद्रहवां

---

* कलियुग के आदि में श्रीश्रीकण्ठनाथ के आदेश से त्र्यम्बकनाथ, आमर्दकनाथ और श्रीनाथ – ये तीन सिद्ध अवतरित हुए, जो क्रम से अद्वैत, द्वैत और द्वैताद्वैत शिवशास्त्र के संप्रदाय चलाने में प्रवीण थे। त्र्यम्बकनाथ की शाखा से उसकी मानसिक पुत्री के द्वारा अर्धत्र्यम्बक शाखा का प्रादुर्भाव हुआ – अतः इस त्रिक शास्त्र की शाखा में साढे तीन शाखाओं का समावेश पूर्णरूप से ठहरा हुआ है।

मानसिक पुत्र जो त्र्यम्बकनाथ की शाखा में उत्पन्न हुआ था, वह भी समस्त भैरवशास्त्रों में निष्णात था, किन्तु किंचित् मल के होने से वह मानसिक पुत्र को उत्पन्न करने में असमर्थ रहा। अतः भ्रमण करते करते उसे एक दिन (स्व) रूप-यौवन-संपन्न सौभाग्ययुक्त ब्राह्मण-कन्या पर उसकी दृष्टि पड़ी। उस ने विचारा कि यह कन्या सभी गुणों से युक्त है, अतः यह ठीक मेरे योग्य समान धर्म वाली है। इस आशय से उस सिद्ध ने उसके पिता के पास जाकर उस से इस कन्या के साथ पाणि-ग्रहण की अनुज्ञा के लिये प्रार्थना की। उस पिता ने सुयोग्य वर देख कर उनकी प्रार्थना को स्वीकार किया। तत्पश्चात् दोनों का विवाह ब्राह्मण-रीति के अनुसार हुआ। ततः उन दोनों ने एक पुत्र-रत्न को प्राप्त किया, जो उसी सिद्ध के समान सर्व-गुण-संपन्न था। उन्हीं का नाम संगमादित्य था। वे संगमादित्य कालान्तर में भ्रमण करते हुए काश्मीर[⊛] देश में पहुंचे और काश्मीर में ही वास करने लगे। संगमादित्य का विवाह भी ब्राह्मण-कुल में हुआ। उन का एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिस का नाम वर्षादित्य था। इस प्रकार गुरु-शिष्य-परंपरा पिता-पुत्र-द्वारा ही आगे बढ़ती गई। ततः वर्षादित्य ने अरुणादित्य-नामक पुत्र को जन्म दिया। अरुणादित्य ने आनन्द-नाम वाले पुत्र को उत्पन्न किया। आनन्द-नाम वाले प्रभु-पाद भी समस्त भैरवशास्त्रों में पूर्ण-रूप से निष्णात थे। उस आनन्द नाम वाले प्रभु से भगवान् सोमानन्द नाथ ने जन्म लिया, जो उत्कृष्ट शिवदृष्टि शास्त्र के रचयिता हुए हैं। इस प्रकार आदि-सिद्ध से लेकर सोमानन्द नाथ तक त्रिकशास्त्रों की परम्परा पिता-पुत्र-क्रम से ही चलती आई है। तत्पश्चात्

⊛ इस से साफ सिद्ध होता है कि त्रिक-शास्त्रों का संप्रदाय काश्मीर में ही विकासित हुआ है। इत्यतः इस शास्त्र को (Kashmir-Shaivaism) कहना सार्थक ही है।

श्रीसोमानन्दनाथ से लेकर श्री आचार्य क्षेमराज जी तक इस त्रिक-शास्त्र का संप्रदाय गुरु-शिष्य-परम्परा से ही आगे प्रसारित हुआ। सोमानन्दनाथ जी के शिष्य सुप्रसिद्ध प्रत्यभिज्ञाकार श्री उत्पलदेव जी हुए, जिन्होंने श्रीसोमानन्दनाथ-द्वारा संपादित श्रीशिवदृष्टि-शास्त्र की व्याख्या की थी। श्री उत्पलदेव के शिष्य श्रीलक्ष्मण-गुप्त हुए और लक्ष्मण-गुप्त जी के शिष्य-समस्त-शास्त्र-पारंगत सूर्य के समान देदीप्यमान श्रीमान् आचार्य अभिनवगुप्त जी हुए। इस प्रकार आचार्य अभिनवगुप्त जी का संप्रदाय त्र्यम्बकनाथ जी की शाखा से संबन्धित है। इस भांति त्र्यम्बकनाथ तथा अर्धत्र्यम्बकनाथ की शाखा अद्वैत-प्रधान भैरव-शाखा मानी गई है, श्रीनाथ जी की शाखा द्वैताद्वैत प्रधान रुद्रशास्त्रों की शाखा है और आमर्दकनाथ की शाखा द्वैत-प्रधान शिवशास्त्रों से संबन्धित है।

इन दस द्वैतशास्त्रों, अठारह द्वैताद्वैत शास्त्रों और चौंसठ अद्वैत शास्त्रों के विषय में दूसरी बात भी ध्यान रखने योग्य है कि आमर्दकनाथ की द्वैत-शाखा में केवल द्वैत-प्रधान शिव-शास्त्रों का ही समावेश है और वे शास्त्र उपर्युक्त रीति के अनुसार दस-तन्त्रों में विभाजित हैं। श्रीनाथ की शाखा उपर्युक्त कथनानुसार द्वैताद्वैत-प्रधान रुद्र-शास्त्रों की शाखा है, जिस में केवल अठारह रुद्र-शास्त्रों का ही समावेश नहीं हुआ है अपितु द्वैत-प्रधान शिव-शास्त्रों का समावेश भी पाया जाता है। इसी प्रकार अद्वैत-प्रधान भैरव-शास्त्रों की शाखा में केवल अद्वैत-प्रधान भैरव-शास्त्रों का ही समावेश नहीं है किन्तु सभी द्वैताद्वैत-प्रधान रुद्र-शास्त्रों का और द्वैत-प्रधान शिव-शास्त्रों का भी समावेश हुआ है। स्पष्ट है कि भैरव-शास्त्रों का संप्रदाय चौंसठ, अठारह और दस — इन सभी बयानवे तन्त्रों के अन्तर्गत है, रुद्र-शास्त्रों का संप्रदाय अठारह और दस अर्थात् अठाईस तन्त्रों में विभाजित है और द्वैत-प्रधान शिव-शास्त्रों का संप्रदाय केवल दस तन्त्रों में ही विद्यमान है।

पूर्व आचार्यों ने इस त्रिक-शास्त्र (भैरव-शास्त्र) का संप्रदाय चार शाखाओं में विभाजित किया है। कौल-शाखा, प्रत्यभिज्ञा-शाखा, क्रम-शाखा और स्पन्द-शाखा।

यद्यपि इन चारों शाखाओं में ज्ञान और योग पूर्ण रूप से निहित है तथापि कौल-शाखा और प्रत्यभिज्ञा-शाखा में ज्ञान की प्रधानता मानी गई है और क्रम-शाखा तथा स्पन्द-शाखा में योग की प्रधानता है।

कौल-शाखा के आद्य-प्रवर्तक भगवान् सोम-देव हुए हैं। उनके शिष्य सुमतिनाथ, सुमतिनाथ के शिष्य भगवान् शम्भुनाथ तथा शम्भुनाथ के शिष्य सुप्रसिद्ध आचार्य अभिनवगुप्त जी हुए हैं।

प्रत्यभिज्ञा-शाखा के आद्य-प्रवर्तक श्रीसोमानन्द-नाथ थे। इनके शिष्य आचार्य उत्पलदेव, उनके शिष्य लक्ष्मण-गुप्त और इनके शिष्य आचार्य अभिनवगुप्त जी हुए हैं। यह है ज्ञान-प्रधान दो शाखाओं का निर्णय।

अब योग-प्रधान अन्य दो शाखाओं का निर्णय इस भांति है — क्रम-शाखा के आद्य-प्रवर्तक भगवान् शिवानन्दनाथ जी हुए हैं, जिन को उत्तर-पीठ में अघोर-रूप पीठेश्वर्यों ने इस क्रम-शाखा का उपदेश दिया था। भगवान् शिवानन्दनाथ ने इस क्रम-शाखा का उपदेश अपनी तीन शिष्याओं को, जिनके नाम केयूरवती देवी, मदनिका देवी और कल्याणिका देवी था, दिया था। इन तीन भगवतियों ने एक साथ ही तीन सिद्धों को इस शाखा का उपदेश दिया था, जिनके नाम क्रमशः – श्रीगोविन्दराज, श्रीचक्रभानु और श्री एरकनाथ हैं। श्रीगोविन्दराज जी की शाखा के अनुसार इस क्रम-शाखा का ज्ञान श्रीसोमानन्दनाथ ने प्राप्त किया था। सोमानन्द ने

❀ तत्त्व-दृष्टि से त्रिकशास्त्र का संप्रदाय संपूर्ण चार-पादों से संयुक्त है अर्थात् ज्ञान और योग इन दो पादों में ही अन्य दो पाद ठहरे हैं। अर्थात् ज्ञान-पाद में चर्या-पाद स्थित है और योग-पाद में क्रिया पाद। इत्यतः त्रिक-शास्त्र संपूर्ण ज्ञान, योग, चर्या और क्रिया-पाद से पूर्ण है।

अपने शिष्य उत्पलदेव को, उन्होंने अपने शिष्य लक्ष्मणगुप्त जी को और लक्ष्मणगुप्त जी ने अपने शिष्य आचार्य अभिनवगुप्त जी को इस शास्त्र का उपदेश किया था। इसी प्रकार श्रीचक्रभानु ने अपने शिष्य उज्जटनाथ तथा उस ने अपने शिष्य उद्भटनाथ जी को इस क्रम-शाखा का ज्ञान प्रदान किया था। श्री उद्भटनाथ जी की परम्परा से भी आचार्य अभिनवगुप्त जी ने इस क्रमशाखा का ज्ञान प्राप्त किया था। इस के अतिरिक्त श्रीमान् एरकनाथ ने इस क्रम-शाखा का ज्ञान उपरोक्त तीन देवियों से प्राप्त किया था किन्तु वे (एरकनाथ जी) क्रम-शाखा-संबन्धि सिद्धियों में ही लवलीन रहे और इस संप्रदाय को आगे नहीं बढाया। इस से यह बात स्पष्ट रूप से दीखती है कि आचार्य अभिनव-गुप्त जी ने इस क्रम-शाखा का ज्ञान पूर्ण रूप से प्राप्त किया था

स्पन्दशाखा के आद्य-प्रवर्तक भगवान् वसुगुप्तनाथ जी हुए हैं। उनके समय काश्मीर में बौद्धों का पर्याप्तमात्रा में ज़ोर रहा था। आचार्य वसुगुप्तनाथ जी के समय में काश्मीर में नागबोधि आदि प्रकाण्ड बौद्ध-संप्रदाय के संचालक थे। जिन्होंने कई बार आचार्य वसुगुप्त नाथ को, अपने बौद्ध-सिद्धान्त को समक्ष रख कर हरा दिया था।

कुछ समय के पश्चात् सौभाग्य-वश श्रीवसुगुप्त जी ने महादेव-पर्वत की तलाई में जाकर एक पवित्र-स्थान[*] पर भगवान् शंकर जी की आराधना की। इस के फल-स्वरूप भगवान् शंकर जी ने वसुगुप्तनाथ जी को स्वप्न में अनुगृहीत किया और ~~इस प्रकार~~ आदेश दिया कि इस पवित्र महादेव पर्वत की तलाई में एक विशेष स्थान में महान शिला[+] है, जिस के तल में मेरे रहस्य-सूत्र अंकित हैं। उन सूत्रों का ज्ञान साक्षात्कार करके अनुग्रह-योग्य-शिष्यों में प्रकाशित करो।

इस प्रकार स्वप्नदशा में भगवान् शंकर जी का आदेश प्राप्त करके श्रीवसुगुप्तनाथ ने जागते ही उस महान् शिला का अन्वेषण किया। ढूंढते ढूंढते उन्हें यह विशाल शिला

---

* वसुगुप्तजी ने जहां शंकर जी की आराधना की थी, उस स्थान को आजकल भी वसुपुर नाम से कहा जाता है। संभव है वसुगुप्त के वहां तपस्या करने से उस स्थान का नाम वसुपुर रखा गया था।

\+ इस महान् शिला को आजकल के लोग शंकर-पल कहते हैं।

मिली। ज्योंही उन्होंने इस पवित्र शिला का स्पर्श हाथ से किया, उसी समय यह शिला भगवान् शंकर जी के आशीर्वाद से एक दम पलट गई। तत्पश्चात् उन्होंने उन शिवसूत्रों का पूर्ण-रूप से अध्ययन और मनन किया। तदनन्तर आचार्य वसुगुप्तनाथ ने भगवान् शंकर की अनुकम्पा से उन सभी शिवसूत्रों का वास्तविक तत्त्व समझ लिया। फिर उन्होंने इन शिव-सूत्रों का सारभूत रहस्य स्पन्द-शास्त्र में संगृहीत किया। इस के साथ ही उस का ज्ञान भट्टकल्लटादि अपने प्रधान सच्छिष्यों में प्रकट किया। श्रीभट्ट-कल्लटनाथ की गुरुपरम्परा से इस स्पन्द-शाखा का ज्ञान भी श्री आचार्य अभिनवगुप्त जी ने प्राप्त किया। इस प्रकार स्पष्टरूपता से यह सिद्ध है कि इस त्रिक-शास्त्र-संप्रदाय की चारों शाखाओं का ज्ञान श्री अभिनवगुप्त जी को प्राप्त हुआ था अतः यदि आचार्य अभिनवगुप्त जी को शिव का अवतार ही माना जाये तो अतिशयोक्ति न होगी।

अस्तु उपर्युक्त शिवसूत्रों का रहस्यमय-ज्ञान प्राप्त करके श्री वसुगुप्तनाथ जी ने सभी बौद्ध-मतानुयायि आचार्यों को अपने शास्त्रार्थ के बल से पूर्ण-रूप से परास्त किया। तत्पश्चात् इस त्रिक-शास्त्र-रहस्य का संप्रदाय फिर से देदीप्यमान हो गया।

° कई आचार्यों का कहना है कि स्पन्द-कारिकाओं के कर्ता श्रीवसुगुप्त जी के शिष्य श्रीकल्लटाचार्य थे, श्री वसुगुप्त जी नहीं थे। यह बात सरासर ग़लत और आधार-रहित है। यदि यह बात सच होती तो शिवसूत्रविमर्शिनी में श्री क्षेमराज जी का कहना "स्पन्दकारिकाभिश्च संगृहीतवान्" निराधार और असत्य है। मेरे गुरुदेव भी कहा करते थे कि स्पन्द-कारिका के रचयिता श्रीवसुगुप्त जी ही थे।

१ किसी आचार्य ने कहा भी है —

"श्रीकण्ठेशावतारः परमकरुणया प्राप्तकाश्मीरदेशः।
श्रीमान्नः पातु साक्षादभिनववपुश्री दक्षिणामूर्तिदेवः॥"

इस श्लोक से स्पष्ट है कि श्री अभिनवगुप्त जी महाराज साक्षात् शिव ही काश्मीर में अवतरित हुए थे।

(संसार और मोक्ष)

तत्त्वदृष्टि से सुख, दुःख तथा मोह के चक्र में फंसना, एवं जन्म-मरण की सन्तति का लक्ष्य बनना ही संसार कहलाता है। इस जन्म-मरण के चक्र से छूट कर पारमार्थिक स्वरूप में स्थित होना ही मोक्ष कहलाता है। संसार का मुख्य कारण अज्ञान है और ज्ञान मोक्ष का कारण है। भैरवतन्त्रों के आधार पर शैवाचार्यों ने अज्ञान को दो भागों में विभक्त किया है— बौद्ध-अज्ञान और पौरुष-अज्ञान। इसी भांति ज्ञान भी दो प्रकार निर्णय किया गया है। बौद्ध-अज्ञान मनुष्य की बुद्धि में ठहरा रहता है - जिस के फल-स्वरूप उस की बुद्धि संकुचित बनी रहती है, उस संकुचित बुद्धि के होने से उसे यह समझ में नहीं आता कि हेय क्या है और उपादेय क्या है। वह केवल सांसारिक सुख-दुःख आदि भोगों में ही फंसा रहता है। पौरुष-अज्ञान मनुष्य को अपने स्वरूप-प्रथन से वञ्चित बना देता है। भाव यह है जब भी वह स्वात्मानुसंधान करने लगता है, उस का मन कदापि एकाग्र नहीं होता, केवल <u>उस का</u> मन इधर उधर के संकल्प-विकल्पों में फिरता रहता है और उसे कभी भी एकाग्रता प्राप्त नहीं होती। इन उपर्युक्त दो प्रकारों के अज्ञानों को त्रिक-शास्त्रों ने मल के नाम से अभिहित ~~विभूषित~~ किया है। कहा भी है—

'मलमज्ञानमिच्छन्ति
संसाराङ्कुरकारणम्'

अर्थात् अज्ञान मल है, जो संसार के अंकुर का कारण माना गया है। भाव यह है कि मल अर्थात् आणव-मल ही संसार— मायीय-मल के अंकुर— कार्म-मल का कारण है। दूसरी बात यह भी है कि आणव-मल के होने से मनुष्य के स्वरूप में अपूर्णता प्रकट होती है, जिस के फल-स्वरूप वह अनेक प्रकार के अभिलाषों में भटकता फिरता है और कदापि स्वरूप-साक्षात्कार प्राप्त नहीं करता। इस प्रकार आणव-मल के होने से उस की आत्मा में भिन्न-वेद्य-प्रथा बनी रहती है। जिस भिन्न-भिन्न-पदार्थों के ऽज्ञान को मायीय-मल का नाम ~~से अलंकृत किया~~ दिया गया है। इस मायीय-

मल के प्रभाव से मनुष्य के अन्तःकरणों में शुभाशुभ-वासना उत्पन्न होती है। इस शुभाशुभ-वासना को पूर्व-आचार्यों ने कार्म-मल का नाम दिया है। स्मरण रहे कि आणव-मल के होने से ही मायीय-मल (भिन्न-वेद्य-प्रथा) और कार्म-मल (शुभाशुभ-वासना) का प्रादुर्भाव होता है; अतः यह बात स्पष्ट है कि आणव-मल ही मुख्यतया अज्ञान कहलाता है और (उपरोक्त) बौद्ध-अज्ञान और पौरुष-अज्ञान आणव-मल के अन्तर्गत ही हैं। यही आणव-मल अथवा बौद्ध और पौरुष-अज्ञान जीव को संसार अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में डाल देता है और उसे इस संसार-चक्र से मुक्त होने की कोई आशा नहीं रहती जब तक कि उस की आत्मा में परमेश्वर के शक्तिपात से द्विविध-पौरुष-ज्ञान और बौद्ध-ज्ञान का विकास न हो जाय।

(बौद्ध ज्ञान और उस के लक्षण)

परमेश्वर की अनुग्रह-शक्ति से जब मनुष्य के हृदय में परमेश्वर-अद्वैत-शास्त्र पढ़ने की इच्छा होती है, तो वह कटि-बद्ध होकर किसी गुरु के पास शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने के निमित्त पढ़ने लगता है और धीरे २ उस शास्त्र को समझने लगता है। फिर उस के फल-स्वरूप उस का मन परमेश्वर-शास्त्र के ज्ञान से पूर्णतया सुवासित हो जाता है। उसे इस बात का पूर्ण ज्ञान हो जाता है कि तत्त्व-दृष्टि से संसार किसे कहते हैं और मोक्ष किसे कहते हैं - इस प्रकार उस की बुद्धि में पूर्ण-रूप से विकास होता है। जिस के फल-स्वरूप उस की बुद्धि में उसे यह ज्ञान प्राप्त होता है कि पारमार्थिक स्वात्मस्थिति के लक्षण क्या होते हैं और उस का साक्षात् अनुभव किस प्रकार से संभव है। इस प्रकार के ज्ञान को बौद्ध-ज्ञान कहते हैं। — अतः इस बौद्ध-ज्ञान की प्राप्ति का उपाय अद्वैत-शास्त्रों का बार बार पठन और मनन करना ही है।

इस प्रकार बौद्ध-ज्ञान की प्राप्ति पर मनुष्य को हेय तथा उपादेय समझ में आने लगता है। किन्तु स्मरण रहे कि इस बौद्ध-ज्ञान की स्थिति केवल पारमेश्वर शास्त्रों पर ही अवलम्बित है अर्थात् केवल अद्वैत-शास्त्रों का श्रवण और मनन करने से ही मनुष्य को इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है कि वास्तव में हेय क्या है और उपादेय क्या है। तात्पर्य यह है कि अद्वैत-शास्त्रों का अहर्निश श्रवण तथा मनन करने से मनुष्य की बुद्धि का पूर्ण रूप से विकास तो होता है, किन्तु उस की आत्मा में स्वरूप-अप्रथन-रूप संकोच बना ही रहता है। अतः बौद्ध-ज्ञान के उदित होने पर स्वरूप-साक्षात्कार-का प्राप्त होना असंभव है, यतः इस ज्ञान से बुद्धि में ही विकास होता है, पुरुष में नहीं। किन्तु ध्यान रहे कि यदि परमेश्वर की अनुकम्पा से मनुष्य को बौद्ध-ज्ञान के साथ साथ पौरुष-ज्ञान की प्राप्ति भी हो जाये तो उसे केवल मुक्त होने का ही नहीं बल्कि जीवन्मुक्ति प्राप्त करने का भी अधिकार प्राप्त हो सकता है। इस विषय को हम आगे विशद-रूप से निर्णय करेंगे।

(पौरुषज्ञान और उस के लक्षण)

भगवान् शंकर की अनुग्राहिका शक्ति से जब कोई मनुष्य सुवासित होता है तो वह शिव-साक्षात्कार को प्राप्त करने के लिए सद्गुरु के चरणों में पहुंचता है और वहां उन से उपदेश प्राप्त करके पारमार्थिक पथ पर पदार्पण करने लगता है। तत्पश्चात् सद्गुरु के द्वारा कहे गये छः योग के अंगों का अभ्यास करने लगता है। वे छः अंग हैं — प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा, तर्क और समाधि। प्राणायाम के अभ्यास से उसके प्राणों की शुद्धि होती है, ध्यान से उस की बुद्धि में निर्मलता आ जाती है, प्रत्याहार से उस का अन्तःकरण विशद होता है, धारणा से उस की आत्मा निर्मलता को प्राप्त करती है, तर्क से उस की परिमित आत्मा में अपरिमित

आत्मस्थिति का समावेश होने लगता है। इस प्रकार पूर्ण उद्यत रहने से उस साधक को पौरुष-ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, जिस के फल-स्वरूप उसे पारमार्थिक स्वात्मस्थिति का अनुभव समाधि में होता है, जहां वह साधक अपनी चिदानन्द-सत्ता में लयीभूत हो जाता है। उस चिदानन्द-सत्ता की प्राप्ति पर उसे सभी सांसारिक सुख अकिंचन और फीके दिखाई देते हैं, और फिर उसे सांसारिक सभी सुखों में तनिक मात्र भी लगाव नहीं रहता। कहा भी है—

'सुखमात्यान्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।'

इत्यतः साधक जब इस प्रकार के निरन्तर अनुसंधानात्मक क्रिया से अपनी आत्मा में पारमार्थिक सुख-संपत्ति का साक्षात्कार करता है - उसी स्थिति को पौरुष-ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार पौरुष-ज्ञान की प्राप्ति पर उसे फिर से इस अगाध जन्म-मरण के चक्र में गिरने का कोई भी भय नहीं रहता, और केवल मुक्त-आत्मा ही कहा जाता है। स्मरण रहे कि पौरुष-ज्ञान की प्राप्ति पर साधक को स्वात्म-साक्षात्कार तो होता है, पर साधक अपनी जीवन-दशा में इस पौरुष-ज्ञान को पूर्ण रूप से पा नहीं सकता। हां देह को छोड़ने के समय अर्थात् मरने के समय ही उस साधक को पौरुष-ज्ञान पूर्ण रूप से विकसित होता है और वह देह-पात के क्षण पर ही मुक्त होता है। अतः पौरुष-ज्ञान-संपत्ति से सुशोभित साधक मुक्त कहा जा सकता है किन्तु जीवन्मुक्त नहीं। परन्तु जब वह पौरुष-ज्ञान से संयुक्त साधक बौद्ध-ज्ञान से संपन्न भी हो जाये तो फिर वह जीवन्मुक्त ही कहलाया जायेगा। अतः इस अंश में बौद्ध-ज्ञान की प्रधानता समझनी चाहिए। परन्तु यदि साधक बौद्ध-ज्ञान से संपन्न हो और पौरुष-ज्ञान से वञ्चित हो तो फिर उसे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। भाव यह है कि केवल बौद्ध-ज्ञान से न मुक्त ही हो सकता है और न जीवन्मुक्त। इस अंश में यहां बौद्ध-ज्ञान की अपेक्षा पौरुष-ज्ञान

की ही प्रधानता माननी चाहिए। यतः यदि पौरुष-ज्ञान न हो तो केवल बौद्ध-ज्ञान से तनिक-मात्र भी कोई लाभ नहीं हो सकता, इस के उलट पौरुष-ज्ञान से साधक बौद्ध-ज्ञान के न होने पर भी मुक्त बन जाता है। मैं यहां दूसरी बात की ओर संकेत करना नितान्त आवश्यक समझता हूं। वह यह है कि यदि साधक पौरुष-ज्ञान से संयुक्त हो और उसे बौद्ध-ज्ञान का सर्वथा अभाव बना रहता हो, तो संभव है कि बौद्ध-अज्ञान के साथ रहने से कदाचित् पौरुष-ज्ञान में न्यूनता आजाये और फलतः पौरुष-ज्ञान का बौद्ध-अज्ञान के प्रभाव से ह्रास ही होता रहे। इत्यतः पौरुष-ज्ञान की प्राप्ति पर साधक को बौद्ध-ज्ञान को प्राप्त करने में कटि-बद्ध होकर प्रयत्न करना नितान्त आवश्यक है। इसी बात को समझ रख कर शैव-आचार्यों ने इन दो ज्ञानों का पारस्परिक पोष्य-पोषक भाव वर्णन किया है। इसी आशय से आचार्य अभिनवगुप्त जी ने भी कहा है —

"क्षीणे तु पशुसंस्कारे पुंसः प्राप्तपरास्थितेः।
विकस्वरं तद्विज्ञानं पौरुषं निर्विकल्पकम्॥
विकस्वराविकल्पात्मज्ञानौचित्येन यावता।
तद्बौद्धं यस्य तत्पौंस्नं पोषणीयं च पोष्टृ च॥"

भाव यह है कि पौरुष-ज्ञान से बौद्ध-ज्ञान परिवर्धित हो जाता है और बौद्ध-ज्ञान से भी पौरुष-ज्ञान की पुष्टि होती रहती है। इत्यतः मोक्ष-प्राप्ति के लिये इन दोनों ज्ञानों का होना नितान्त आवश्यक है। इस आशय से दूसरे शास्त्र में कहा है कि—

"श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं च गुरुमुपासीत"

अर्थात् बौद्ध-ज्ञान-संपन्न श्रोत्रिय तथा पौरुष-ज्ञान संयुक्त ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाना चाहिये।

संसार तथा मोक्ष का लक्षण भिन्न भिन्न
मतावलम्बियों के आधार पर

(१) वैष्णव-मत के आचार्यों ने मोक्ष पराप्रकृति* भगवान् के स्वरूप में लय होना माना है। उन के सिद्धान्त से भगवान् जड-चेतन-वर्ग को उत्पन्न करने वाला है, तथा परा-प्रकृति स्वभाव वाला परं ब्रह्म का स्वरूप ही कहलाया जाता है। वही अपनी इच्छा से क्रम-वैचित्र्य प्रकट करता है, जिस के फल-स्वरूप जीव को सुख-दुःख आदि का अनुभव होता रहता है; इसी सुख-दुःख आदि वैचित्र्य को उन्हों ने संसार माना है।

मोक्ष उनकी दृष्टि से - परिशुद्ध संविद्रूपता पर बार बार अनुसंधान करके और इसी के साथ भिन्न भिन्न सुख आदि को निराधार और असत्य समझने से सभी सुखदुःख आदि विकारों का निरास करने पर परिपूर्ण शुद्ध-संविद्रूपता के साथ एकीभावात्मक स्थिति को प्राप्त करना ही माना है।

(२) ब्रह्म-वादियों की दृष्टि से आनन्द-रूपता मोक्ष कहलाती है। उनके सिद्धान्त के अनुसार अज्ञान-रूप आवरण में बार बार फंसना ही संसार कहलाता है। इस अज्ञानात्मक आवरण से छूटने के लिये

'आत्मा श्रोतव्यो मन्तव्यो
निदिध्यासितव्यः,'

इस आदेश को समक्ष रख कर आनन्द-स्वरूप आत्मा का श्रवण गुरु-मुख से करना चाहिए, तत्पश्चात् आनन्द-स्वरूपता समझने पर उस का बार बार विचार करके उसी आनन्द-रूपता के साथ तन्मयीभाव प्राप्त करना

* भगवान् की दो शक्तियां हैं — अपरा प्रकृति और परा प्रकृति। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार — यह अष्टधा अपरा प्रकृति जीवात्मा के साथ संबन्धित है। परा-प्रकृति वह शक्ति है जिस ने इस समस्त संसार को रचाया है। यह परा-प्रकृति परमात्मा के साथ संबन्धित है। इसी आशय से परमात्मा को परा-प्रकृति के नाम से अलंकृत किया है।

चाहिये । इस तन्मयीभाव की प्राप्ति पर जीव अपने पारमार्थिक स्वरूप में समाविष्ट होता है, और फिर उस के सारे सुख-दुःख आदि बन्धन एकबारगी समाप्त हो जाते हैं । इसी स्थिति को मोक्ष कहते हैं । कहा भी है—

'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'

इत्यादि । तत्त्व-दृष्टि से विज्ञान और आनन्द ही ब्रह्म का पारमार्थिक स्वरूप है ।

(३) विज्ञानवादियों की धारणा है कि वस्तुतः मन स्वभाव से प्रकाश-स्वरूप है । उसी प्रभास्वर-शील मन में राग आदि मलों के साथ संबन्ध रहने से मलों के आवरण आ उपस्थित हो जाते हैं, जिनके फल-स्वरूप मन की अपनी प्रभास्वरता समाप्त हो जाती है और उस में आवरणों का समावेश होता है । फलतः उस मन में प्रभास्वरता (प्रकाशरूपता) तो दूर ही रही अगाध मलिनता घेरी रहती है । उस मन का आश्रय तथा आधार राग-द्वेष आदि मल ही बन जाते हैं । इसी का नाम विज्ञानवादियों ने संसार रखा है ।

जब जीव प्रभु के अनुग्रह से और गुरु-कृपा से यह समझने लगता है कि तत्त्व-दृष्टि से मन प्रकाश-स्वरूप ही है और उस में राग आदि का संचार होना असंभव है, तो फिर साधक अपने मन में सदैव वासना तथा रागादि मलों के हटाने का बार बार प्रयत्न करता है जिस से उस मन का आश्रय ही एकदम बदल जाता है और फिर वह मन अविनश्वर ज्योतिः-स्वरूप में ही परिणत हो जाता है । इसी अविनश्वर ज्योतिःरूपता को ही मोक्ष कहते हैं । जैसा वह कहते हैं—

'प्रभास्वरमिदं चित्तं प्रकृत्यागन्तवो मलाः ।
तेषामपाये सर्वार्थं तज्ज्योतिरविनश्वरम् ॥'

भाव यह है कि यह मन तो सर्वथा प्रकाश-स्वरूप ही है। किन्तु माया के प्रभाव से ही उस मन में राग आदि मलों का सञ्चार होता है जिस के फल-स्वरूप जीव जन्म-मरण के चक्र में अनन्त-काल-पर्यन्त भटकता फिरता है। परन्तु गुरु-कृपा से तथा अपने प्रयत्न से उन आगन्तुक मलों का निरास होता है और फिर उस मन की अपनी प्रकाश-रूपता फिर से विकसित होती है और साधक संसार के चक्र से सदा के लिये मुक्त होता है।

(४) वैभाषिक आचार्यों की धारणा है कि मनुष्य संसार में जो भी कुछ कर्म करता है उस के फल-स्वरूप उस के शब्द-स्पर्श-रूप-रस और गन्ध - इन पांच तन्मात्राओं में — अविद्या (परमेश्वर-स्वरूप का न जानना) अस्मिता (मैं ऐसा हूं इत्यादि अभिमान) राग (किसी से लगाव) द्वेष (किसी से वैर) और अभिनिवेश (यही ठीक है - इस प्रकार अच्छा न होते हुए भी अच्छा समझना) - इन पांच क्लेशों+ का प्रहार होता रहता है — जिस के फल-स्वरूप उसे सदैव उपरोक्त पांच क्लेश सताते रहते हैं। इसी के कारण वह जीव जन्मादि चक्र की शृङ्खलाओं में बन्धा रहता है। इसी का नाम संसार है।

इस के उलट वैभाषिक आचार्य मोक्ष का संपादन इस प्रकार करते हैं — जिस प्रकार दीपक में ज्योति के उत्पादक कारण-वर्ग (तेल, बत्ती आदि) के समाप्त होने पर दीप-शिखा आप ही आप समाप्त होती है, उसी भांति योगी भी नैरात्म्य❀-भावना के बल से

+ अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश — इन्हीं को पांच क्लेश कहते हैं, क्योंकि इन के होने से ही मनुष्य पूर्ण-रूप से क्लेशों से परास्त होता है।

❀ अपने मन में सभी राग आदि क्लेशों को हटाना और उस मन की स्थिति इस प्रकार समझना कि उस में किसी वस्तु का होना संभव नहीं है - इस प्रकार की धारणा को नैरात्म्य-भावना कहते हैं।

क्लेश- कर्म इत्यादि को तिलाञ्जलि देकर पांच-तन्मात्र- वर्गों के वैतन्य को सदा के लिये समाप्त करता है । तब योगी पूर्ण निर्विकल्प-दशा को प्राप्त करके महाशून्यावस्था की उपलब्धि करता है। इसी सर्वतः शान्त शून्यावस्था को वैभाषिक आचार्य मोक्ष कहते हैं । कहा भी है—

'दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
देशं न कांचिद्विदिशं न कांचित्
स्नेहक्षयात्केवलमेति शांतिम् ॥

योगी तथा निर्वृतिमभ्युपेतो
नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
देशं न कांचिद्विदिशं न कांचित्
क्लेशक्षयात्केवलमेति शांतिम् ॥'

अर्थात् जब दीप-शिखा बुझ जाती है तो वह शिखा न पृथ्वी में समा जाती है और न आकाश में। वह शिखा न किसी देश की ओर प्रस्थान करती है, न किसी देश के गुप्त भाग में छिप जाती है, किन्तु तेल- इत्यादि समाप्त होने पर केवल अकिंचन-रूपता में प्रवेश करती है । इसी भांति योगी जब निरात्म-भावना के अभ्यास से सर्वतः निर्वृत्त हो जाता है तो वह न धरा में प्रवेश करता है और न आकाश में और न वह किसी देश-देशान्तर में चला जाता है, अपितु वह योगी राग आदि क्लेशों के समाप्त होने पर केवल अकिंचन महा-शून्य-धाम में प्रविष्ट होकर शांत होता है । इसी अवस्था को वैभाषिक-ऋषियों ने मोक्ष माना है ।

(5) सांख्य-सिद्धान्त के प्रवर्तक कपिलादि ऋषियों का सिद्धान्त है कि जब तक मनुष्य को अपनी प्रकृति का ज्ञान नहीं होता, तब तक उसे प्रकृति, अपनी विकृति बुद्धि इत्यादि सभी तत्त्व-वर्गों में नचाती रहती है। जिस के फल-स्वरूप उसे संसार से कदापि मुक्ति नहीं होती और वह प्रकृति से उत्पन्न बुद्धि इत्यादि —

तत्त्व-जाल में फंस कर उस में सदा ही अवलिप्त रहता है और सदैव जन्म-मरण के अनन्त-चक्र में फंस जाता है। उस दशा में वह मनुष्य अज्ञान-ग्रस्त जीव कहलाता है और सदैव अनेकानेक योनियों में आकर सुख-दुःख हर्ष-शोक आदि सभी सांसारिक द्वन्द्वों का शिकार बन जाता है, वह सदैव काम-क्रोध आदि चित्त-विकारों में ही परेशान हुआ सा बना रहता है। सांख्य-सिद्धान्त की धारणा है कि पुरुष अकर्ता होने के कारण पङ्गु माना जाता है और प्रकृति जड होने से अन्धी मानी गई है, इत्यतः जैसे कोई पंगु व्यक्ति किसी अन्धे के कन्धों पर सवार होकर समस्त गमनादि-क्रिया कर सकता है, इसी भांति चेतन पंगु पुरुष भी जड प्रकृति पर सवार होकर सभी सांसारिक हानादानादि-क्रिया करने में समर्थ बनता है, फलतः वह पुरुष अपनी प्रकृति के सहारे ही इस अगाध तथा अनन्त जन्म-मरण के चक्र में फंस जाता है और उसे प्रकृति ही अपनी इच्छा के अनुसार नचाती है। इस अवस्था में उस पुरुष को इस बात का तनिक-मात्र भी ज्ञान नहीं रहता कि मुझे इस तरह इस दुःखालय संसार में कौन नचाता है जिस से कि मैं सांसारिक सुख दुःख आदि शृङ्खलाओं में बन्धा हुआ रहता हूं। इसी दशा को सांख्य-सिद्धान्त के आचार्य संसार कहते हैं।

उपरोक्त कथन के अनुसार जब पुरुष, प्रकृति के विकारों द्वारा इस संसार में भटकता हुआ अनेक जन्मों में दुःख-परम्परा का शिकार बनता है तो फिर किसी समय उसे अनुग्रहशील प्रभु की दया से मन में वैराग्य उत्पन्न होता है, तब वह सचेत होकर गुरु के पास जाता है। उस से विधि-पूर्वक उपदेश प्राप्त करके यम-नियम आदि सभी योगांगों का अहर्निश अभ्यास करने लगता है, जिस के फल-स्वरूप उसे आत्म-ज्ञान प्राप्त होने पर प्रकृति-पुरुष-विवेक उत्पन्न होता है। वह इस धारणा पर पहुंच जाता है कि वास्तव में मैं, प्रकृति से अलग हूं और मेरा इस प्रकृति तथा उस के कार्यों

के साथ कोई भी संबन्ध नहीं है। उधर प्रकृति भी समझने लगती है कि इस पुरुष ने मुझे पहचाना है - इसलिये इस को नचाने में, मैं अब समर्थ नहीं हूं। फलतः वह पुरुष प्रकृति तथा विकृति की पकड़ से सदा के लिये छूट जाता है। वह सदैव अपने स्वात्मानन्द की अवस्था में पूर्ण रूप से निष्ठ बन जाता है। इस अवस्था को सांख्य-वादियों ने मोक्ष कहा है।

उपरोक्त मतवादियों के द्वारा प्रतिपादित मोक्ष पर त्रिकशास्त्र की समालोचना

वैष्णवमतानुयायी तो कहते हैं कि भगवान् परा-प्रकृति-[1] स्वरूप है और उसी परा-प्रकृति के द्वारा अपरा-प्रकृति-स्वरूप[2] जीव का प्रसार हुआ है। यह सिद्धान्त एकदम गलत और निराधार है। भला परा-प्रकृति-भगवान् जो परिशुद्ध संविद्रूप है, उस से अज्ञान-ग्रस्त अपरा-प्रकृति-स्वरूप जीव कैसे उत्पन्न हो सकता है। समान-कारण से तो समान कार्य की ही उत्पत्ति हो सकती है। उस से विषम-कार्य की उत्पत्ति कैसे होगी। इत्यतः उनकी यह धारणा, कि विषम-कार्य-रूप सुखदुःख आदि मनोभावों का त्याग करने से शुद्ध-संविद्रूपता का साक्षात्कार हो सकता है, सरासर गलत और निराधार है।

इतना ही नहीं, इस सिद्धान्त में दूसरी आशंका यह भी उपस्थित होगी कि इस प्रकार के अभ्यास से

---

(1)(2) अपराप्रकृति और पराप्रकृति का लक्षण भगवद्गीता में इस प्रकार किया है —

"भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयम् — इतस्त्वन्यां विद्धि मे प्रकृतिं पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥"

इत्यादि नीति से पंचमहाभूत, मन, बुद्धि और अहंकार - ये अष्टधा अपरा-प्रकृति जीव की दशा है और परा-प्रकृति इस समस्त संसार के धारक जीवन-रूप, साक्षात् भगवान् का स्वरूप ही है।

उन्हें सुखदुःख आदि का निरास करने पर उनका अवशिष्ट स्वरूप अकिंचन और शून्य ही रह जायेगा, अतः शुद्ध संविद्रूपता की प्राप्ति उनको कैसे हो पायेगी। अतः वैष्णव-वादियों की मुक्ति तो त्रिकशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार प्रलयाकलात्मक स्थिति ही होगी, इस के अतिरिक्त कुछ नहीं।

ब्रह्मवादियों के मत में संसार-दशा में अविद्या के आवरणों से स्वरूप की आनन्दरूपता मिट जाती है। पर वे यह नहीं समझ पाये हैं कि स्वरूप की आनन्दरूपता अविद्या के द्वारा कैसे आवृत हो सकती है। आनन्दरूपता तो उस का स्वभाव है, वह स्वभाव कैसे किसी अन्य वस्तु से आवृत हो सकता है। क्योंकि

'नहि स्वभावो भावानां
व्यावर्तेतौष्ण्यवद्रवेः,

अर्थात् भावों का स्वभाव कदापि निवृत नहीं हो सकता, जिस प्रकार सूर्य भगवान् की ऊष्णता उस से कदापि अलग नहीं हो सकती। इस आशय से किसी के भी स्वभाव का बदलना कदापि संभव नहीं है। इस के अतिरिक्त आनन्दरूपता तब तक मोक्ष नहीं कहलाई जा सकती है, जब तक कि उस आनन्द के साथ स्वातंत्र्य नहीं विद्यमान् है। अतः ब्रह्मवादियों की यह मोक्षावस्था त्रिकशास्त्र की दृष्टि से संवेद्यप्रलयाकल का रूप ही है, मोक्ष नहीं।

विज्ञानवादियों अर्थात् योगाचार मत के अनुयायी आचार्य इस धारणा पर पहुंचे हैं कि मन तो स्वभाव से ही प्रकाश-शील है, पर अनादि अविद्या के फल-स्वरूप उस मन में राग आदि मल उत्पन्न होने से संसार आ उपस्थित हो जाता है। इस लिए मोक्ष-प्राप्ति के लिये साधक को मन के ~~चित्त-क्षणों का~~य समल चित्त-क्षणों का धीरे धीरे

त्रिकशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार प्रमाता (आत्मा) की सात अवस्थायें वर्णन की गई हैं। सकल-प्रलयाकल-विज्ञानाकल-मन्त्र-मन्त्रेश्वर-मन्त्रमहेश्वर और शिव – ये सात प्रमाता हैं। इन के स्वरूप का निर्णय प्रमातृ-प्रकरण में विशद रूप से आगे किया जायेगा।

भावना द्वारा निरास करना पड़ता है। तब इन समल-चित्त-क्षणों का आश्रय प्रभास्वर रूप चित्त-क्षणों में बदलता है। इस भांति मन के आश्रय-परावृत्ति से मन की प्रकाशरूपता चमक उठती है। इस दशा की प्राप्ति को वे मोक्ष कहते हैं।

त्रिकशास्त्र की दृष्टि से यह बात युक्ति-संगत नहीं है। यतः प्रभास्वररूप भावना, समल चित्त-क्षणों में कोई भी विशेषता उत्पन्न नहीं कर सकती है। यतः उन के सिद्धान्त के अनुसार यह बात सिद्ध है कि चित्त-क्षण सदैव क्षण-क्षयी हैं ; और भावना उसी पर लागू हो सकती है जो स्थिर आश्रय वाली हो। चित्त-क्षण तो सदैव क्षण-क्षयी हैं, तब फिर भावना किन चित्त-क्षणों को प्रभास्वर-रूप बना पायेगी। इस के उलट समल-चित्त-क्षण तो धारावाहिक रूप से समल चित्त-क्षणों को ही जन्म दे सकती है, अपने असदृश निर्मल प्रभास्वर चित्त-क्षणों को नहीं। कहा भी है —

'विकल्पः❀ संस्कृतः सूते ~~विकल्पं~~ स्वतुल्यं स्वात्मसंस्कृतम्।
स्वतुल्यं सोऽपि सोऽप्यन्यं सोऽप्यन्यं सदृशात्मकम्।'

अतः इन विज्ञान-वादियों की भावना मन के समल क्षणों को कदापि निर्मल नहीं बना सकती है। इस आशय को समक्ष रख कर योगाचार-मतवादियों की मोक्षकल्पना निराधार और असत्य है।

वैभाषिक आचार्यों की मोक्ष के विषय में यह धारणा है कि मनुष्य के व्यावहारिक दशा में जब तक हानादान आदि कल्पना रहती है, तब तक वह जीव अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश- इन

❀ इस श्लोक का अर्थ है कि ~~संस्कृतः~~ यदि समल-चित्त संस्कृत किया जाता है तो भी वह चित्त-विकल्प धारावाहिक रूप से अपने सदृश चित्त-क्षणों को ही उत्पन्न करेगा, किन्तु अपने विसदृश क्षणों को उत्पन्न करने में असमर्थ ही रहेगा।

पांच क्लेशों का ही शिकार बनता है। और जब उसे निर्विकल्पता प्राप्त होती है, तो फिर उस में पांच क्लेशों का प्रहार नहीं होता। वह सभी क्लेशों से रहित, शान्त तथा अगाध शून्यावस्था को प्राप्त करता है। इस अवस्था को वे मोक्ष कहते हैं।

इस से यह सिद्ध होता है कि वैभाषिक आचार्यों का मोक्ष केवल शून्यावस्था ही है। त्रिकशास्त्र की दृष्टि से उन का यह मोक्ष केवल अपवेद्य-प्रलयाकल ही मान लिया जायेगा। इसलिये: उन का यह मोक्ष वास्तव में अमोक्ष ही है और कुछ नहीं।

सांख्य-सिद्धान्त के आचार्यों का यह सिद्ध करना, कि आत्मा वास्तव में अकर्ता है, सरासर गलत है। उन के सिद्धान्त के अनुसार यदि पुरुष को अकर्ता ही मानें तो वह भला कैसे मुक्त हो सकता है। अकर्ता होने के कारण वह मुक्त होने के लिये कोई भी प्रयत्न नहीं कर सकता है। उसे प्रकृति-पुरुष-विवेक के उदय होने पर भी अपने तात्त्विक चित्स्वरूपता में कदापि स्थिति नहीं हो सकती है। पुरुष के विवेक होने पर भी प्रकृति स्वभाव से ही अपना कार्य-क्रम करती ही रहेगी और वह प्रकृति विवेक-संपन्न पुरुष को भी अपनी विकृतियों (बुद्धि इत्यादि वर्गों के) द्वारा अवलिप्त करती ही रहेगी। यतः जड़ होने के कारण प्रकृति को यह बोध कैसे हो सकता है कि 'इस पुरुष ने मुझे देखा है, अब इस के लिये मैं संसार-जनक कार्य-वर्ग उत्पन्न नहीं करूंगी'। इत्यतः प्रकृति-पुरुष-विवेक की प्राप्ति पर भी उसे संसार का आविर्भाव बना ही रहेगा। अतः प्रकृति-पुरुष-विवेक से पुरुष का मुक्त होना निराधार और असत्य ही सिद्ध होता है। इस प्रकार सांख्यवादियों की दृष्टि से भी तथ्य मोक्ष की प्राप्ति होनी असंभव ही है।

इन उपरोक्त मतावलम्बियों के सिद्धान्तों पर एक बार विहंगम- दृष्टि डालने से यह सिद्ध होता है कि वैष्णव-मतानुयायी आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित मोक्ष प्रलयाकल- अवस्था पर ही सीमित रहेगा।

ब्रह्मवादियों का मोक्ष स्वातंत्र्यहीन आनन्द रूप होने से सवेद्य-प्रलयाकल-दशा में ही सीमित रहेगा।

विज्ञानवादियों के द्वारा प्रतिपादित मोक्ष, चित्त के प्रभास्वररूप होने से सवेद्य-~~प्रलयाकल~~ प्रलयाकल पर ही टिका रहेगा।

वैभाषिक आचार्यों से निर्धारित मोक्ष क्लेश आदि पांच स्कन्ध से रहित शान्त-स्वरूप होने के कारण अपवेद्यप्रलयाकल ही समझा जायेगा।

सांख्यवादियों के द्वारा प्रतिपादित मोक्ष अकर्तृत्व-दशा की प्राप्ति के फल-स्वरूप पुरुष-तत्त्व-प्राप्ति पर ही अवसान करेगा।

इसी प्रकार सांख्य-सिद्धान्त और पातञ्जल-सिद्धान्त में यद्यपि पुरुष की प्रकृति से विविक्तता ही मोक्ष माना गया है, तथापि योग-सिद्धान्त में

'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'

इस नीति के आधार से ईश्वर-प्रणिधान होने के कारण सांख्य-सिद्धान्त से पातञ्जल-सिद्धान्त में विशेषिता है, इत्यतः उन का मोक्ष पुरुष-तत्त्व से ऊपर नियति-तत्त्व पर ही आश्रित है। इसी दृष्टि के आधार पर मौसुल, तथा कारुक-सिद्धान्त में प्रतिपादित मोक्ष नियतितत्त्व से ऊपर मायातत्त्व-प्राप्ति पर ही अवसित होता है। तथा पाशुपत-सिद्धान्त में प्रतिपादित मोक्ष ईश्वरतत्त्व-प्राप्ति पर ही अवसान करता है। कहा भी है —

'मोक्षोऽपि वैष्णवादेर्यः
स्वसंकल्पेन भावितः।
परप्रकृतिसायुज्यं
यद्वाप्यानन्दरूपता ॥

विशुद्धचित्तमात्रं वा।
दीपवत्संततिक्षयः ॥
स सवेद्यापवेद्यात्म-
प्रलयाकलतामयः ॥"

अर्थात् वैष्णव आदि मतवादियों का मोक्ष जो पराप्रकृति भगवान् के साथ तन्मयीभाव होना माना है, ब्रह्मवादियों के द्वारा मोक्ष आनन्द रूपता है, ~~वैभाषिकों~~ योगाचार विशुद्ध- चित्त-मात्र ही ~~प्रतिपादि~~त है, मोक्ष है, वैभाषिकाचार्यों ने मोक्ष अत्यन्त शून्य रूप माना है। ये वादियों की सभी मोक्ष-विषय कल्पनायें सवेद्यप्रलयाकल अथवा अपवेद्यप्रलयाकल में ही अवसान करती हैं। और भी कहा है —

'षड्विंशकं च वेदेशि
योगशास्त्रे परं पदम्।
मौसुले कारुके चैव
मायातत्त्वं प्रकीर्तितम्।
व्रते पाशुपते प्रोक्त-
मैश्वरं परमं पदम्।"

अर्थात् योग-शास्त्र में छब्बीसवें तत्त्व पर पहुंचना ही परम-धाम (मोक्ष) माना गया है। मौसुल तथा कारुक-सिद्धान्त में माया-तत्त्व को ही मोक्ष समझ लिया है, और पाशुपत-सिद्धान्त में ईश्वर-तत्त्व-प्राप्ति ~~मोक्ष~~ मुक्ति मानी गई है।

(त्रिकशास्त्र के आधार पर
मोक्ष का लक्षण)

परमेश्वर की स्वातंत्र्यशक्ति में समावेश ही मोक्ष कहलाता है। स्वातंत्र्यशक्ति का निर्णय भैरवशास्त्रों में निम्नरीति से किया गया है। यद्यपि यह बात सिद्ध है कि परमेश्वर का स्वरूप ज्ञान-क्रिया-मय है तथापि इस ज्ञानक्रिया का यथार्थ रूप साधारण जनता की बुद्धि में नहीं बैठता। ज्ञान और क्रिया रूपता में समावेश यह नहीं है कि जहां केवल ज्ञान में और केवल क्रिया में ही समावेश हो जाय, अपितु जहां ज्ञानरूप क्रिया में और क्रियारूप ज्ञान में समावेश हो। दूसरे शब्दों में हम यूं कहेंगे कि जिस अवस्था में साधक को ज्ञानरूप क्रिया का स्वातंत्र्य हो और क्रियारूप ज्ञान का स्वातंत्र्य हो वही पारमार्थिक स्वरूपस्थिति कहलाई जायेगी और वही यथार्थ मोक्ष कहलाया जायेगा। अन्यथा केवल ज्ञान और क्रिया में समावेश होना यदि मोक्ष माना जाय तो उस मोक्ष में केवल ज्ञान और क्रिया का ही साक्षात्कार होगा, तब तो वहां स्वरूप-स्वातंत्र्य नहीं रहेगा। मान लिया जाये कि साधक को ज्ञान और क्रिया का साक्षात्कार हुआ, तथापि उसे ज्ञान-दशा में क्रिया से दूर ही रहना होगा और क्रिया में उसे ज्ञान से वञ्चित ही रहना पड़ेगा। ज्ञानरूप-दशा में उसे स्वात्मनिष्ठता तो रह सकती है, पर क्रियारूप-दशा में वह साधक स्वरूप-साक्षात्कार से वञ्चित ही रहेगा। या यूं कहा जाय- अन्तर्मुख समाधि की अवस्था में उसे ज्ञान की स्थिति तो रहेगी, पर व्युत्थान-दशा में आकर जब क्रिया-रूपता में अवतरित होगा तो उसे स्वरूप-साक्षात्कार से वञ्चित ही रहना पड़ेगा। इत्थंतः सिद्ध होता है कि जिस अवस्था में ज्ञानरूप क्रिया और क्रियारूप ज्ञान का पूर्ण अधिकृत साम्राज्य प्राप्त हो जाये, वही

तत्त्वदृष्टि से स्वरूप-स्वातंत्र्यदशा अथवा स्वातंत्र्यरूपता में स्थिति मानी गई है, जिसे शैव-आचार्यों ने मोक्ष के नाम से अलंकृत किया है। उस पारमार्थिक मोक्ष-दशा का स्वरूप व्युत्थान में और समाधि में एक जैसा रहता है। वह चाहे समाधि में ज्ञान-दशा में ठहरे या व्युत्थान में क्रिया-दशा में सञ्चार करे, तत्त्वदृष्टि से मुक्त ही है। कहा भी है—

'स्वतंत्रात्मातिरिक्तस्तु
तुच्छोऽतुच्छोऽपि कश्चन।
न मोक्षो नाम तन्नास्य
पृथङ्नामापि गृह्यते ॥'

अर्थात् स्वतंत्रात्मा में समाविष्ट होने के बिना मोक्ष नहीं प्राप्त हो सकता है। यदि मोक्ष अतुच्छदशा (ज्ञान-दशा) में रहना समझ लिया जाये तो तुच्छदशा (क्रिया-दशा) में उस का अभाव होगा; इसलिये यथार्थ मोक्ष वही है जो तुच्छदशा (बाह्य-दशा) में और अतुच्छदशा (अन्तर्मुख-दशा) में भी स्थायी रूप से बना रहे। इसी मोक्ष-दशा का दूसरा नाम स्वरूप-स्वातन्त्र्य-दशा है। यही पारमार्थिक मोक्ष कहलाता है। इसी आशय से आचार्य-प्रवर अभिनवगुप्त जी ने भी कहा है—

'मोक्षस्य नैव किंचिद्धामास्ति
न चापि गमनमन्यत्र।
अज्ञानग्रन्थिभिदा
स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः ॥'

अर्थात् मोक्ष का कोई नियमित स्थान नहीं है। न मोक्ष-प्राप्ति के लिये कहीं जाना होता है। अज्ञान-

रूपी बन्धन काटने पर जहां अपनी स्वरूप-स्वातंत्र्यशक्ति का साक्षात्कार हो जाय, वही तत्त्व-दृष्टि से मोक्ष कहलाता है। इसी आशय को समक्ष रख कर भैरव-शास्त्रों में कहा है —

'न क्रियारहितं ज्ञानं न ज्ञानरहिता क्रिया।
ज्ञानक्रियाविनिष्पन्न आचार्यः पशुपाशहा॥'

अर्थात् इस अनुत्तर-मार्ग में क्रिया के बिना ज्ञान नहीं ठहर सकता और ज्ञान के बिना क्रिया नहीं दिखाई देती, अतः शिष्यों के अज्ञान रूपी बन्धनों को काटने में वही गुरु समर्थ हो सकता है, जो गुरु, ज्ञान-क्रिया की स्वतंत्रता में सर्वभाव से निष्णात और सिद्ध-हस्त हो।

इसी पारमार्थिक मोक्ष-दशा को प्राप्त करने के लिए भैरव-शास्त्रों में तीन प्रकार के उपाय बताये हैं। पहला उपाय आणवोपाय है — जिस का संबन्ध अणु जीव से है। दूसरा शाक्तोपाय है — जिस का संबन्ध शक्ति से है और तीसरा शाम्भवोपाय है — जिस का संबन्ध शिव से है। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि आणवोपाय का आश्रय ले कर साधक को जो समावेश होता है, वह आणव-समावेश कहा जाता है। जो शाक्तोपाय के द्वारा साक्षात्कार होता है उसे शाक्त-समावेश कहते हैं; और जो अवस्था शाम्भवोपाय का आश्रय लेकर प्राप्त होती है, उसे शाम्भव-समावेश के नाम से विभूषित किया गया है। अब इन तीन उपायों का निर्णय, क्रम से करेंगे।

इस अवस्था को प्राप्त करते ही साधक-वर्य के दोनों प्राण और अपान अनायास ही मध्य-धाम में लय हो जाते हैं। इस प्रकार सभी तत्त्व-वर्ग, जिन से वह हृदयस्थ शिव संवलित था, एकबारगी चिदग्नि में ~~भस्मसात~~ भस्मीभावात्मिका स्थिति को प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात् योगी यह अनुभव करता है कि उस की सारी इन्द्रिय-वृत्तियां अपनी वृत्तिरूपता को त्याग करके शक्ति-रूपता में समाविष्ट होती हैं। विज्ञानभैरव तन्त्र में कहा भी है —

'न व्रजेन्न विशेच्छक्तिर्मरुद्रूपा विकासिते ।
निर्विकल्पतया मध्ये तया भैरवरूपता ॥',

अर्थात् निर्विकल्प-अनुसन्धान के बल से ही मध्य-विकास होने पर प्राणापान दोनों लय हो जाते हैं। तत्पश्चात् योगी भैरव-रूपता को प्राप्त करता है। स्मरण रहे कि इस अवस्था का अनुभव करने के पश्चात् योगी को व्युत्थान-दशा में अवतरित होकर भी शिवीभावात्मिका स्थिति का साम्राज्य बना ही रहता है। फलतः वह साधकेन्द्र जीवन्मुक्त ही कहलाया जाता है।

अब आणवोपायान्तर्गत 'प्राणतत्त्वसमुच्चार' — इस दूसरी साधना का निर्णय करेंगे।

२ प्राणतत्त्वसमुच्चार

उपरोक्त अनुत्तर-ध्यान-रूप साधना योगी व्युत्थान-दशा में ही कर सकता है। इस अनुत्तर-ध्यान रूप उपासना में पारंगत योगी ही प्राण-तत्त्व-समुच्चार का अभ्यास करने में समर्थ हो सकता है; क्योंकि यह दूसरी उपासना तो तुर्य-दशा में प्रविष्ट होने पर ही योगी कर सकता है। स्पष्ट शब्दों में यूं कहेंगे कि जब साधक जाग्रत दशा में अनुत्तर-ध्यान की उपासना करता है, तो फिर उसे सहज ही में इस ध्यान के प्रभाव से ही तुर्य-दशा में समावेश होता है। इस तुर्य-दशा का समावेश उसे जाग्रत् के अन्त पर और निद्रा के आदि पर होता है। उस दशा में वह योगी

स्वभाव से ही सजग रहता है। इस दशा में भी साधक को तुर्य-दशा के भीतरी सोपान-क्रमों से सावधान होकर आगे चलना होता है। तुर्य-दशा के प्रवेश-समय योगी को स्वात्मानुसन्धान बना ही रहता है। तत्पश्चात् स्वात्मानुसंधान की तत्परता से वह अगाध शून्यता में प्रविष्ट होता है, जहां वह गुरु-कृपा और अपने अनुसन्धान के बल से सजग रहता है। ऐसी दशा में वह साधक अगाध शून्य-दशा का अनुभव सजग होकर ही करता है और एक क्षण के लिये भी अपने अनुसन्धान को शिथिल होने नहीं देता। तब वह अगाध शून्य-भाव-रूप स्थिति का अनुभव करते हुए पहिली स्वात्म-साक्षात्कार-संबन्धिनी निरानन्द-दशा[1] का अनुभव करता है। उस दशा में साधक के प्राण और अपान अत्यन्त सूक्ष्म हो जाते हैं। ऐसी दशा में उसे प्राणापान की गति का कुछ भी पता नहीं चलता कि उसे प्राणापान का सञ्चार होता है कि नहीं। यदि उस दशा में वह साधक पूर्ण-रूप से सजग नहीं रहेगा तो उसे सुषुप्ति-दशा में गिर जाना स्वाभाविक ही बन जाता है। इत्यतः उस दशा से अगली उच्च स्थिति में जाने के लिए साधक को अपनी प्राणापान-गति का सञ्चार ज़ोर से अनुसन्धान-पूर्वक करना आवश्यक है। तभी वह योगी तुर्यावस्था की अगली दशा को प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। इस प्राणोदय-दशा का आश्रय लेकर योगी दूसरी परानन्ददशा[2] में प्रवेश करता है। तब उसे इस परानन्द-दशा के प्रभाव से ही प्राणापान का सञ्चार दीर्घ और अनुसन्धान-मय बन जाता है। इस परानन्द-दशा में उस योगी को विशेष उत्कृष्ट आनन्द का अनुभव होता है। उस दशा में वह योगी समझने लगता है कि यह उत्कृष्ट आनन्द मुझे अपना स्वाभाविक आनन्द है और उस समय उसे प्राणापान-गति और भी अधिक मात्रा में अनुसन्धान-पूर्वक चमक उठती है।

ऐसा करते करते गुरु-कृपा और अपने उद्योगबल से उस के प्राण और अपान एकदम रुक जाते हैं * और ये दोनों प्राण और अपान समान-दशा में ठहर जाते हैं । इन दोनों प्राण और अपान की गति कुछ क्षणों के लिये स्तब्ध हो जाती है। इस दशा को प्राप्त करके योगी, ~~अपने~~ स्वात्मानन्द में प्रवेश करता है । इस आनन्द-दशा का नाम ब्रह्मानन्द-दशा है। स्मरण रहे इस ब्रह्मानन्ददशा में योगी के प्राणापान का सञ्चार पूर्ण-रूप से स्तब्ध होता है । उस का प्राणापान न बाहर जाता है और न भीतर । इस प्रकार योगी इस तीसरी स्वात्मसाक्षात्कार-संबन्धिनी ब्रह्मानन्द-दशा[३] का अनुभव करता है।

जब योगी ऊपर वर्णित ब्रह्मानन्द-दशा का अनुभव करते हुए तनिक मात्र भी अपनी स्वात्मानुसन्धान-परायणता को शिथिल होने नहीं देता, तब उस के स्तब्धी-भूत प्राण और अपान एक बारगी सुषुम्णा-धाम में प्रवेश करते हैं इस दशा में प्राण और अपान इन दोनों की स्थिति समाप्त हो जाती है और वे दोनों महासुषुम्णा-नाडी अर्थात् उदान रूपी अग्नि में लय हो जाते हैं । उस दशा में योगी को स्वात्म-स्थिति का परमानन्द प्राप्त हो जाता है । वह प्राणापान के प्रसरात्मक और प्रवेशात्मक क्षोभ से रहित होकर स्वात्म-स्वरूप में लय होजाता है । वह योगी उस स्वात्म-साक्षात्कार संबन्धी आत्यान्तिक आनन्द को प्राप्त करता है । इस आनन्द-दशा का नाम चौथी महानन्द-दशा[४] है ।

हमारे शैव-आचार्यों का सन्देश है कि इस चौथी महानन्द-दशा को प्राप्त करके योगी को और कुछ प्रयत्न नहीं करना होता है । इस दशा को प्राप्त करके योगी स्वयं ही महाशांति-प्रदायिनी अवस्था को प्राप्त करता है । इस दशा में प्रविष्ट होकर योगी को इसी अवस्था में सजग होकर ठहरना चाहिये । क्योंकि जिस स्वात्म-संवित्ति का वह अनुभव करता है, उसी

में परा-भक्ति का आश्रय लेकर सदा रहना चाहिये। स्मरण रहे कि इस महानन्द-दशा को प्राप्त करके भी तनिक-मात्र अनवधानता से योगी पुनः संसारावस्था में ही धकेल दिया जाता है। स्पन्द-शास्त्र में कहा भी है—

'तदा तस्मिन्महाव्योम्नि
प्रलीनशशिभास्करे।
सौषुप्तपदवन्मूढः
प्रबुद्धः स्यादनावृतः॥'

अर्थात् उस समय उस परमाकाश में जहां साधक के प्राण और अपान दोनों ही लीन हो जाते हैं, वहां भी यदि योगी अपने अवधान को तनिक भी शिथिल करेगा तो वह भी फिर से उस महानन्द-दशा से वंचित होकर सुषुप्ति के समान जड-दशा को ही प्राप्त करेगा। इस के उलट स्वात्मानुसंधान-संपन्न योगी तो सदा के लिए इस संसार के अथाह जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है।

इसी प्रकार महानन्द-दशा को प्राप्त करके योगी जब उस महानन्द-दशा के मध्य-धाम में निविष्ट प्राणापान की त्रोटनात्मक अवस्था में चला जाता है और उस दशा में भी योगी उस महा-उदानात्मक स्वरूपस्थिति में सर्वभाव से तन्मय होकर ठहरता है, तो उस की पूर्ण शान्त उदानात्मक दशा महा-व्यानदशा में प्रवेश करती है। जहां उस के प्राणनात्मक प्रवेशात्मक स्थिति, मध्य-धाम-अन्तर्गत ऊर्ध्वकुण्डलिनी-धाम में लय हो जाती है। इस दशा को महा-व्यान-दशा के नाम से अभिहित किया गया है। उस ऊर्ध्वकुण्डलिनी दशा में वह योगी पूर्ण चिदानन्द-अवस्था का अनुभव करता है। ध्यान रहे कि यह पांचवीं चिदानन्द-दशा योग की चरम-अवस्था है। इस अवस्था में योगी परिपूर्ण स्वात्मस्थिति का साक्षात्कार करता है। यही पांचवीं महाव्यानदशा चिदानन्द-दशा है। इस अवस्था

में समाविष्ट होकर योगी परिपूर्ण स्वरूप-व्याप्ति का अनुभव करता है।

जब यही चिदानन्द-दशा, भीतर समाधि में और बाहर व्युत्थान में एक जैसी रहती है, जहां व्युत्थान और समाधि में कोई भेद नहीं रहता, जिस को प्राप्त करके योगी को फिर से अनुसंधानात्मक उपायों का आश्रय लेना नहीं पड़ता है और जिस अवस्था में योगी स्वात्मास्थिति से किसी भी अवस्था में वञ्चित नहीं रहता, वही योगी की अन्तिम पराकाष्ठा की अवस्था कहलायी जाती है। यही छटी जगदानन्द-दशा साक्षात् परमदशा मानी गई है। इस दशा को प्राप्त करके योगी परमशिव के समान बन जाता है। इस अवस्था का निर्णय करते हुए आचार्य-प्रवर श्री अभिनवगुप्त जी ने कहा है—

'यत्र कोऽपि व्यवच्छेदो
नास्ति यद्विश्वतः स्फुरत्
यदनाहतसंवित्ति-
परमामृतबृंहितम्।
यत्रास्ति भावनादीनां
न मुख्या कापि संगतिः
तदेव जगदानन्द-
मस्मभ्यं शंभुरूचिवान्॥'

अर्थात् जिस दशा में समाधि और व्युत्थान का कोई भेद नहीं रहता। जो पूर्णाहन्ता के परामर्श से सदैव प्रपूरित और पूर्ण रहती है। जहां धारणा, ध्यान, समाधि का आश्रय लेने की कोई भी उपयोग्यता नहीं रहती, उसी दशा को हमारे पूज्य गुरु-प्रवर शंभुनाथ जी ने जगदानन्द-दशा के नाम से अलंकृत (अभिव्यक्त) किया है।

इन छः आनन्ददशाओं के संबन्ध में यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि पहिली निरानन्द-दशा महाप्राणदशा के अन्तर्गत है। दूसरी परानन्ददशा महा-अपान-दशा के अन्तर्गत है। तीसरी ब्रह्मानन्द-दशा महासमान-दशा के अन्तर्गत है। चौथी महानन्द-दशा महा-उदान-दशा के अन्तर्गत है। और पांचवीं चिदानन्द-दशा महा-व्यान-दशा में ठहरी हुई हैं। इस के अतिरिक्त छटी जगदानन्द-दशा भीतर बाहर सर्वतोपरि और सर्वभाव से सारी दशाओं में ठहरी हुई है। यही जगदानन्द-दशा परमशिवदशा कहलाई जाती है।

चिदात्मा का उच्चार (३)

इसी पूर्वोक्त जगदानन्ददशा की स्थिरता के निमित्त तीसरा उपाय-क्रम चिदात्मा का उच्चार वर्णन किया जा रहा है। जब योगी उपरोक्त जगदानन्ददशा का अनुभव करता है, तब आप ही आप विना किसी प्रयत्न से उसे चिद्रूपता का पूर्ण रूप से विकास होने लगता है। प्रथमतः व्युत्थानदशा में वह योगी चिदानन्दरूपता का अनुभव सभी हानादानादि व्यवहार-दशा में करता है। और उसी व्यवहारदशा में ही वह योगी संपूर्ण भैरवरूपता का चमत्कार करता है— इसी अवस्था को शैव-आचार्यों ने संपूर्ण उन्मीलन-समाधि के नाम से अलंकृत किया है। यह उन्मीलन-समाधि ही भैरवावस्था की अन्तिम स्थिति है। इस अन्तिम दशा का अनुभव करके उस योगी को कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता। वह योगी हानादानादि व्यवहार करे अथवा और भी कुछ कर्म करे, उस के लिए भैरवावस्था की

अनुभूति सदा के लिए बनी ही रहती है। इसी स्थिति को पूर्वाचार्यों ने भैरव-याग के नाम से अलंकृत किया है। कहा भी है—

> सर्वभावमयभावमण्डले
> विश्वशक्तिमयशक्तिबर्हिषि।
> जुह्वतो मम समोऽस्ति कोऽपरो
> विश्वमेधमययज्ञयाजिनः॥

अर्थात् जो मैं, अनन्त-शक्ति-मय सर्वोत्कृष्ट स्वातंत्र्यशक्तिरूपी महान् अग्नि में सभी बाह्य तथा आभ्यन्तरवर्ति पदार्थों को हवन करता हूं— इसी लिये जो मैं इस प्रकार महान् विश्वमेध-यज्ञ रचाता हूं, उस ऐसे बने हुए मेरे समान इस संसार में कौन है— यतः महान् भैरव-याग का ~~करता~~ कर्ता मैं ही हूं।

इत्यतः सिद्ध हुआ कि इस प्रकार भैरव-याग को ~~र~~ रचाने वाला केवल जगदानन्द-दशा में ही नहीं अपितु बुद्धिप्रमातृदशा में, विषय-ग्रहण-काल में, देहप्रमातृभाव में और सभी सांसारिक अवस्थाओं में उसी परभैरव को पूजता है, उसी का हवन करता है और उसी का ध्यान करता रहता है— इत्यतः उस साधक के लिए जो भी कुछ है वह सारा भैरव-याग ही है। यहां पाठक-जन ध्यान रखें कि आणवोपाय का आश्रय लेकर भी वह साधक इस भैरवावस्था की अन्तिम दशा का अनुभव करता है। इत्यतः उपाय-फल-भेद की शंका है ही नहीं। भाव यह है कि यदि उपायों का भेद है, पर उन उपायों से जो उपेय— प्राप्य है, उस में तनिक-मात्र भी भेद नहीं है। कहा भी है—

> 'संवित्तिफलभेदोऽत्र
> न प्रकल्प्यो मनीषिभिः॥,

अर्थात्— योगियों को ऐसी धारणा नहीं करनी चाहिए कि भिन्न भिन्न उपायों के द्वारा भिन्न भिन्न फल ही प्राप्त होतीं हैं। भाव यह है कि उपायों के पारस्परिक भेद होने पर भी फल सर्वथा एक ही प्राप्त होता है। वह फल केवल संपूर्ण-भैरवावस्था ही है।

परतत्त्वान्तः प्रवेश ④

उपरोक्त चिदात्मा-उच्चार के अनन्तर आणवोपाय का
चौथा प्रमेय परतत्त्वान्तः प्रवेश की ओर प्रकाश डाला दिया
जाता है। चिदात्मा का विकास योगी को किन किन अवस्थाओं
में होता है - यह स्पष्ट रूप से निर्णय किया जाता है।
भाव यह है कि योगी के सभी दृष्टि-कोण अदिव्य-दशा
से दिव्य-दशा में परिवर्तित हो जाते हैं। फलतः इस अलौकिक
दिव्य-दशा को प्राप्त करके योगी की सभी बाह्य तथा
आभ्यन्तरी दशाएं सर्वभाव से अलौकिक और दिव्य
बन जाती हैं जिन दशाओं का वह योगी स्वयं अनुभव
करता है। स्पष्ट शब्दों में योगी निम्नलिखित दस अवस्थाओं
में परभैरव-स्वरूप में समाविष्ट होता है। वह दस अवस्थायें
ये हैं —① परमात्मभाव में अर्थात् स्वरूप-साक्षात्कार के समय,
② मितप्रमातृदशा में, ③ जन्माधार अर्थात् गुह्य-इन्द्रिय
में, ④ मध्य-प्राण-शक्ति में अर्थात् मध्य-धाम में, ⑤ स्वातं-
त्र्यशक्ति की अवस्था में जहां योगी को अणिमादि आठ
सिद्धियां प्रकट होती हैं, ⑥ परसंवित्ति की दशा में जहां
योगी चिदानन्द का रसास्वादन करता है, ⑧ प्रमातृ-
दशा में स्थित इच्छा, ज्ञान और क्रिया-इन तीन शक्तियों
में, ⑨ प्रमेय-दशा में स्थित इच्छा, ज्ञान और क्रिया —
इन तीन शक्तियों में और ⑩ प्रमाता तथा प्रमेय-
इन दो अवस्थाओं से अनुपरक्त इच्छा, ज्ञान और
क्रिया — इन तीन शक्तियों की दशा में परभैरवदशा
में प्रवेश करता है।
⑦ ग्राम्यधर्मवृत्ति की अवस्था में अर्थात् जिस समय सांसारिक
विषय-भोग किया जाता है

चूंकि इन सभी दस अवस्थाओं में योगी समान रूपता
से ही परमशिव-दशा का अनुभव करता है। भले ही वह
परमात्मभाव में ही क्यों न हो या मितप्रमातृ-दशा
अर्थात् जीवदशा में ही क्यों न ठहरा हो वह योगी
समानरूपता से ही परमशिवदशा में ठहरा रहता है।
अतः ऐसे योगी के लिये परमशिवदशा और निकृष्ट

जीवदशा में तनिकमात्र अन्तर नहीं रहता। अत एव इसी दृष्टिकोण को समक्ष रख कर शैव-आचार्यों ने इन ~~सभी~~ दसों अवस्थाओं को खं-शब्द से अलंकृत (अभिहित) किया है। खं-शब्द का अर्थ है आकाश अर्थात् चूंकि ये सभी दस अवस्थाएं तात्त्विक भैरव-रूप से तनिक भी अन्य नहीं हैं- अतः ये ~~सभी~~ दसों अवस्थाएं आकाशरूप ही हैं। कहा भी है —

> निस्तरङ्गावतीर्णा सा
> वृत्तिरेका शिवात्मिका।
> तत्स्थो विचारयेत् खं खं
> खस्थं खस्थेन संविशेत्॥
> खं खं त्यक्त्वा खमारुह्य
> खस्थं खं चोच्चरेदिति।
> खमध्यस्याधिकारेण
> पदस्थाश्छिन्नमरीचयः॥

अर्थात् परतत्त्व-प्रवेशरूप स्थिति निस्तरङ्गरूप में ठहरी हुई ही जगत की हानादानादि-व्यवहार में अवतरित हुई है। अर्थात् जगत की भेदरूपता में रह कर भी वह वृत्ति अपनी निस्तरङ्ग-भाव से तनिक-मात्र भी विचलित नहीं हुई है। उस सर्वोपरि निस्तरंग वृत्ति अर्थात् चिदानन्द-दशा में ठहरते हुए ही उस निस्तरंग चिदानन्द-दशा का साक्षात्कार समानरूपता से ही सभी दस अवस्थाओं में करना चाहिए। इस उपरोक्त श्लोक का आशय यह है कि प्रथमतर सर्वोपरि परप्रमातृरूप आकाश में मितप्रमातृरूप आकाश के द्वारा समावेश करना चाहिये, मितप्रमातृ-रूप दूसरे आकाश में जन्माधार रूपी तीसरे आकाश के द्वारा समावेश होता है, जन्माधार रूप तीसरे आकाश

में मध्य प्राणशक्ति रूप चौथी आकाश के द्वारा समावेश होता है। मध्य प्राणशक्ति की दशा में स्वातन्त्र्यशक्ति रूप पांचवी शून्य-भूमि के द्वारा समावेश होता है। स्वातन्त्र्य शक्ति रूप पांचवीं शून्य पदवी में परसंवित्ति रूप छटी आकाश-भूमि के द्वारा प्रवेश होता है, परसंवित्ति रूप आकाश-भूमि में ग्राम्यधर्म रूप आकाशवृत्ति के द्वारा प्रवेश किया जाता है, ग्राम्यधर्म रूप सातवीं आकाश-भूमि में प्रमातृ-दशा में स्थित इच्छा, ज्ञान और क्रिया रूप आठवी भूमि के द्वारा समावेश होता है, प्रमातृदशा-स्थित इच्छा, ज्ञान और क्रिया की आठवी आकाश-भूमि में प्रमेय-दशा-स्थित इच्छा, ज्ञान और क्रिया की नवीं आकाश-भूमि के द्वारा समावेश होता है और प्रमेय-भाव में स्थित इच्छा, ज्ञान और क्रिया की **नवीं** आकाशदशा प्रमातृ-प्रमेय-अनुपरक्त इच्छा, ज्ञान और क्रिया की दसवीं शून्या-तिशून्य दशा में अनुभव की जाती है। और फिर से दसवीं दशा की अनुभूति नवीं दशा में और नवीं दशा आठवीं में, वह सातवीं में, वह छटी में, वह पांचवीं में, वह चौथी में, वह तीसरी में, तीसरी दूसरी में और दूसरी पहिली ~~क्रमशः~~ परप्रमातृरूप पहली में पाई जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि पहिली दशा से लेकर दसवीं स्वात्मिका दशा में किसी भी दशा में न न्यूनता है और न अधिकता। उस पराशिवरूप निस्तरंग-दशा में किसी भी अवस्था में तनिक-मात्र भी अन्तर नहीं है। जहां पूर्वाचार्यों ने इस दशा का नामकरण स्व-शब्द से किया है, वहां अन्य सर्वज्ञ आचार्यों ने इस दशा को धाम-शब्द से अभिहित किया है, यतः ये सभी दसों दशायें परमधाम का ही स्वरूप बनी हुई हैं। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि इन सभी दशाओं में प्रवीण चतुर योगी परम-धाम में ही प्रवेश करता है। कहा भी है—

धामस्थं धाममध्यस्थं
धामोदरपुटीकृतम्।
धाम्ना तु बोधयेद्धाम
धाम धामान्तगं कुरु॥
तद्धाम धामगत्या तु
भेद्यं धामान्तमान्तरम्।

अर्थात् परप्रमातृ रूप धाम में ठहरा हुआ, परमधाम की भेदप्रथा रूप मध्य-दशा में ठहरा हुआ, परमधाम की मध्य-दशा में भेद तथा अभेद-भूमि की एकता के स्थान में उपाय-स्वरूप परम-धाम का आश्रय लेकर मितप्रमातृ रूप परमधाम को प्राणशक्ति रूपी परमधाम का उद्बोधन करके उस परप्रमातृ रूपी धाम को मितप्रमातृ-स्वरूप परमधाम के साथ एक बनाना चाहिये। इस के अनन्तर इस परम-धाम की प्रणाली से मितप्रमातृ रूप परमधाम को लयीभूत करना चाहिए, जिस के फल-स्वरूप इस परमधाम की दशा पूर्ण रूप से सभी जगद्वर्ती दशाओं में निस्तरंग-भाव से एक जैसी चमचमाती रहेगी।

इसी भाव को समक्ष रख कर आचार्य श्री सोमानन्दनाथ ने शिवदृष्टि-शास्त्र में आरम्भ में कहा ~~यह श्लोक लिखा~~ है—

> अस्मद्रूपसमाविष्टः
> स्वात्मनात्मनिवारणे।
> शिवः करोतु निजया
> नमः शक्त्या ततात्मने॥

अर्थात् मैं शिव, अपने परामर्श रूप शिव का आश्रय लेकर विघ्नरूपी शिव को नष्ट करने के लिए अपनी ही अनुसंधानात्मिका शिव शक्ति से अपने विश्वव्यापी शिव-स्वरूप को नमस्कार करता हूं। भाव यह है कि साधक भी शिव ही है, साधना भी शिव है, विघ्न भी शिव ही है और साध्य जो प्राप्त करना है वह भी शिव ही है। इसी अवस्था को दूसरे शब्दों में निस्तरङ्ग-परम-शिव अवस्था कहते हैं।

स्मरण रहे कि इस निस्तरंग-शिवावस्था को शाम्भवोपाय-क्रम से ख-शब्द से <u>अलंकृत</u> किया है, शाक्तोपाय-क्रम से इस अवस्था को धाम-शब्द से <u>विभूषित</u> किया है और इसी परावस्था को आणवोपाय-क्रम से दश-नाद-दशा के नाम से उद्घोषित किया है। इन दस नादों का स्वरूप निम्नलिखित रूप से वर्णन किया है—

❀ तत्त्वदृष्टि से वह परम-शिव-दशा नहीं कहलाती है जो सदैव निस्तरंग-भाव में ठहरी हुई हो। परम-शिव-दशा वह है जो निस्तरंग-रूपता में घट-पट आदि में अवतरित होती है, तथा बाह्य जगत में अवतरित होकर भी निस्तरंग रूपता से विचलित नहीं होती।

नदते दशधा सा तु दिव्यानन्दप्रदायिका ।
चिनीति प्रथमः शब्दश्चिञ्चिनीति द्वितीयकः ।
चीरवाकी तृतीयस्तु शङ्खशब्दश्चतुर्थकः ।
तन्त्रीघोषः पञ्चमश्च षष्ठो वंशरवस्तथा ॥
सप्तमः कांस्यतालस्तु मेघशब्दरवस्तथा ।
नवमो दावाग्निघोषो दशमो दुन्दुभिस्वनः ॥
+नवशब्दान् परित्यज्य दशमो मोक्षदायकः ।

इन श्लोकों का तात्पर्य यह है कि जब साधक शैव-योग-साधना में लगा रहता है तो उसे मन की निरुद्ध-अवस्था में समाविष्ट होकर निम्न-लिखित दस नादों का अनुभव होता है। इन दस नादों की अनुभूति से उसे इन नादों में अलौकिक आनन्द का आभास होता है। प्रथम नाद है चिनी-चिनी-चिनी— इस प्रकार का। इस से उसे एकाग्रता पूर्वक बड़ा आनन्द प्राप्त होता है, क्योंकि ये नाद उसे निस्तरंग रूप परपद में समावेश करने में सहायक बन जाते हैं। दूसरा शब्द चिञ्चिनी-चिञ्चिनी- इस प्रकार का सुनाई देता है। तीसरा चिड़ियों के सामुदायक शब्द जैसा सुनाई देता है। इस के पश्चात् चौथा शब्द शङ्खशब्द जैसा अनुभव में आता है। फिर पांचवां शब्द सितार इत्यादि वाद्यविशेषों से उत्पन्न हुआ जैसा प्रतीत होता है। छठा शब्द तो वन में स्थित बांसों का जैसा प्रतीत होता है। सातवां नाद बड़ी घण्टा से उत्पन्न हुआ जैसा सुनाई देता है। आठवां शब्द मेघ-गर्जन का शब्द जैसा सुनने में आता है। नवां नाद तो डाबरी से उत्पन्न हुआ जैसे अनुभव में आता है और दसवां बड़े डोल (ड्रम) से उत्पन्न हुआ सा प्रतीत होता है। इस प्रकार योगी जब नव नादों की अनुभूति के पश्चात् दसवें डोल (ड्रम) के शब्द की अनुभूति करता है, तो उस के पश्चात् ही उसे परम-तत्त्व-दशा में समावेश होता है, जिस के फल-स्वरूप वह योगी परमशिव की निर्विकल्प निस्तरंग दशा का अनुभव करता है- इस विश्वोत्तीर्ण-दशा में समाविष्ट होने के अनन्तर उसे परमशिव की विश्वमय-दशा का अनुभव होता है। स्मरण रहे कि ये उपरोक्त सभी नाद-दशाएं योग-प्राप्ति के सहायक ही हैं और किसी प्रकार उसे योग-प्राप्ति में बाधक नहीं हैं।

+ 'नवशब्दान् परित्यज्य'- इस शब्द से यह न समझना कि ये सभी नव प्रकार के नाद त्याज्य हैं। किन्तु ये नव शब्द योगी को दसवें नाद-दशा में प्रवेश करने के साधक ही हैं।

उपरोक्त कथन के अनुसार जब योगी इन दस सोपानों के द्वारा परम-धाम में प्रवेश करता है, तो प्रथम, उसे समाधि-दशा में परम-शिव की निस्तरंग-चिदानन्द-दशा का अनुभव होता है, फिर इस समावेश के प्रभाव से ही उसे इस चिदानन्द-दशा का अनुभव व्युत्थान-दशा में अवतरित होने पर भी समान रूपता से होता है— इस दशा का संकेत हमें "निस्तरंगावतीर्णा सा वृत्तिरेका शिवात्मिका" इस शास्त्र की प्रतिज्ञा से मिलता है। भाव यह है कि इस प्रकार शिव-भाव को प्राप्त करके साधक की व्युत्थान और समाधि (दशाओं) में कोई भी अन्तर नहीं रहता। ऐसा योगी समाधि में रहे या व्युत्थान में रहे- सर्वथा शिवावस्था में ही ठहरा हुआ है। इसी अवस्था को "परतत्त्व में प्रवेश होना" माना गया है॥

अथ

परपथ-लक्षणानि (५)

परमधाम में समाविष्ट होने की इच्छा से जब योगी प्रबल अनुसन्धान का आश्रय ले कर योगाभ्यास करने लगता है तो प्रथम में उसे देहगत उपायों के द्वारा अर्थात् देह-संबन्धित प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार तथा धारणा के द्वारा अभ्यास करते करते प्रगाढ़ आनन्द-दशा का अनुभव होने लगता है। इस आनन्द के प्रादुर्भाव से साधक के हृदय में पूर्णता का स्पर्श होने लगता है जिस से उस के मन में सांसारिक विषयों में वैराग्य उत्पन्न होता है और इस अनुभव के-फल स्वरूप वह सदैव उसी आनन्द-दशा में सर्वभाव से निष्णात बनना चाहता है, और वह इसी आनन्द को अपनाने में तत्पर बना रहता है। अतः परम-धाम में प्रविष्ट होने में साधक को यह पहिली आनन्द-दशा की अनुभूति प्रथम चिह्न अथवा लक्षण माना गया है।

इस के अनन्तर जैसे (विद्युत) बिजली के चमकने पर उस क्षण के लिए बिजली की चमक अन्य सभी वस्तुओं में व्याप्त होती है और उस क्षण के लिए बिजली के प्रकाश के विना कोई अन्य वस्तु दिखाई नहीं देती, वैसे ही परतत्त्व-दशा को प्राप्त करने में तत्पर योगी एक क्षण-मात्र के लिए परम-धाम में प्रवेश करने

लगता है, अर्थात् उस परम-पद में एक क्षण के लिए प्रवेश करने लगता है; पूर्ण रूपता से उस में प्रविष्ट नहीं होता, तो उस क्षण-मात्र समावेश के द्वारा उस क्षण के लिए उस के हृदय के देह-तादात्म्य-भाव मिट जाता है, जिस के फल-स्वरूप वह साधक उछलने लगता है — इस दूसरी अनुभूति का नाम उद्भव अथवा प्लुति है। उद्भव इस लिए कि उसे पर-धाम में प्रवेश होता है और प्लुति इस लिए कि वह देह-रूपता से ऊपर उठने लगता है। यह परम-धाम में प्रवेश करने वाले साधक का दूसरा चिह्न अथवा लक्षण है।

इस उद्भव रूप अवस्था को प्राप्त करने के अनन्तर योगी स्वात्मानुसन्धानात्मक उद्योग का आश्रय लेकर फिर से तीव्र-रूपता से अभ्यास करता है, और इस के फल-स्वरूप जो उसे पूर्वकालीन चिदात्मस्वरूप और देहरूपता में भिन्नरूपता का आभास बना रहता था उस में शिथिलता आने लगती है, अर्थात् देहरूपता और चिद्रूपता का पारस्परिक भेद मिट जाता रहता है और वह केवल चिद्रूपता का ही अनुभव करने लगता है, अत एव देहात्मभाव लय होने से उस के हृदय में कम्प होने लगता है। यह कम्पन की अवस्था तीसरी मानी गई है। स्मरण रहे कि योगी के हृदय में कम्पन होने से उसकी पूर्वाभ्यस्त देहवासना मिट जाती है।

इस अवस्था का अनुभव करने के पश्चात् योगी स्वभाव से ही अधिकाधिक सजग बनकर स्वात्मानुसंधान-पूर्वक परम-धाम में प्रवेश करने के लिए आगे बढ़ता है। इस के फल-स्वरूप पूर्ण रूप से अन्तर्मुखावस्था का आश्रय लेने से उसका पूर्व-अभ्यस्त देहात्मभाव सर्व प्रकार से नष्ट होजाता है, पर वैसा होते हुए भी पूर्वाभ्यस्त देहात्मभाव के अवशिष्ट संस्कारों के कुछ कुछ विद्यमान होने से चिदानन्द-स्वरूप में अपना स्थान नहीं बना सकता है — अतः देहतादात्म्य को त्यागने से और अपनी चिदानन्द-रूपता पर आरूढ न होने से वह साधक अगाध निद्रा की अवस्था में चला जाता है। यह अगाध निद्रा की अवस्था योगी का चौथा चिह्न है। यह चौथा चिह्न उस के परमधाम में प्रवेश होने का सूचक है।

इस प्रकार जब योगी ऊपरोक्त चार प्रकार की योग-परिधियों को लाङ्घ कर पांचवीं योगावस्था में प्रवेश करता है, तब वह सजग होकर पारमार्थिक चिदानन्द रूप सत्य-पद पर आरूढ ~~बन~~ हो जाता है। वहां वह योगी अपनी चिदानन्द-रूपता की व्याप्ति समस्त विश्ववर्ती पदार्थों में देखते देखते स्वरूप की महाव्याप्ति-दशा में समावेश करता है। उस दशा में वह योगी घूर्णि अर्थात् महा स्पन्द-दशा का अनुभव करता है। उस अवस्था को प्राप्त करके वह तथ्यरूपता से शिव की तरह सारे संसार की सृष्टि, स्थिति तथा संहार करने में समर्थ होता है। तात्पर्य यह है कि वह योगी इस समस्त संसार-मण्डल का प्रभु बन जाता है। इसी योग की अन्तिम दशा को आचार्यों ने ❀महाव्याप्ति के नाम से ~~अलंकृत~~ अभिहित किया है। यही पाञ्चवीं घूर्णि रूप महाव्याप्ति योग की चरमावस्था कही गई है। इस अवस्था को प्राप्त करके योगी के लिए इस जगत में कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता, तात्पर्यतः वह परमशिव के साथ तन्मय बन जाता है।

यद्यपि इन उपरोक्त पांच योग-अवस्थाओं का उद्गमस्थान हृदय ही माना गया है, तथापि योगप्रक्रिया से इन पांच अवस्थाओं के उद्गमस्थान निम्नलिखित रूप से भिन्न भिन्न ही कहे हुए हैं—

आनन्दश्चक्रं वह्निर्व्याप्ति
कन्द उद्भव उच्यते।
कम्पो हृत् तालु निद्रा च
घूर्णिः स्यादूर्ध्वकुण्डली॥

❀ महाव्याप्ति शिव-व्याप्ति को कहते हैं। यह कहना अप्रासंगीक न होगा कि इन पांच योग की अवस्थाओं में से पाहिली चार अवस्थाओं को आत्म-व्याप्ति के साथ संबन्ध है और अन्य पांचवी महाव्याप्ति अथवा घूर्णि को शिवव्याप्ति के साथ संबन्ध है। इस का स्पष्टीकरण इस श्लोक में मिलता है—

पाशावलोकनं त्यक्त्वा स्वरूपालोकनं हि यत्।
आत्मव्याप्तिर्भवत्येषा शिवव्याप्तिस्ततोऽन्यथा॥
सर्वज्ञादिगुणा येऽर्थाः व्यापकान् भावयेद्यदा।
शिवव्याप्तिर्भवत्येषा चैतन्ये हेतुरूपिणी॥ ← इस श्लोक का अर्थ अगले पृष्ठ के नीचे

पूर्वोक्त आनन्द-दशा का उदय हृदय और त्रिकोण देश अर्थात् जन्माधार के स्थान से होता है। उद्भव अथवा उत्प्लुति का उद्गम कन्द अथवा मेढ्र-कन्द और हृदय से होता है। कम्पन-दशा की अनुभूति हृदय-स्थान में होती है। निद्रा-अवस्था का अनुभव हृदय और तालु में स्थित लम्बिका चतुष्पथ के संमिश्रण से होता है और पांचवीं घूर्णि-दशा का अनुभव योगी को ऊर्ध्वकुण्डलिनी के स्थान से प्राप्त होता है। स्मरण रहे कि आनन्द, उद्भव, कम्प और निद्रा आत्मव्याप्ति के मण्डलान्तर्गत हैं और पांचवीं घूर्णि अवस्था शिवव्याप्ति के मण्डल में ठहरी हुई है। पाठकों को यह भी ध्यान रखना चाहिये कि स्वरूप की विश्वोत्तीर्ण अवस्था पहिली चार अवस्थाओं में ठहरी है और स्वरूप की विश्वमय-अवस्था पांचवी घूर्णि की अवस्था में विद्यमान् है — जिस अवस्था के साथ साथ विश्वमय-दशा में योगी विश्वोत्तीर्ण-दशा का अनुभव करता है और विश्वोत्तीर्ण-दशा में विश्वमय-दशा का अनुभव करता है। आशय यह है कि उस परा-काष्ठा पर पहुंच कर योगी को समाधि और व्युत्थान में कोई भी अन्तर प्रतीत नहीं होता। इसी महाव्याप्ति रूप दशा को आचार्यों ने अव्यक्त-लिंग के नाम से अलंकृत किया है। यही अव्यक्त-लिङ्ग वह दशा है जहां भेददशा में स्थित नर, भेदाभेददशा में स्थित शक्ति और अभेददशा में स्थित शिव अविभक्त रूप से प्रतीत होते हैं। इस दशा को अव्यक्त-लिंग क्यों कहते हैं — इस आशय को यह श्लोक प्रकट करता है —

लिङ्गशब्देन विद्वांसः
सृष्टिसंहारकारणम्।
लयादागमनाच्चाहु-
र्भावानां परमं पदम्॥

अर्थात् इस ऊर्ध्वकुण्डलिनी के धाम को ज्ञानी जन अव्यक्त लिङ्ग के नाम से पुकारते हैं क्योंकि इसी स्थान से समस्त संसार मण्डल का आगमन अर्थात् उदय होता है और इसी स्थान में यह सारा संसार लय हो जाता है। फलतः यही अव्यक्त-लिंग परम-धाम है।

पूर्वपृष्ठ से ⟶ समाधि में प्रवेश करने पर जब योगी भेद-प्रथा रूपी संकल्प-विकल्प आदि पाशों से मुक्त होकर अपने ही स्वात्मानन्द में मग्न रहता है - उसी अवस्था को आत्म-व्याप्ति कहते हैं — यह आत्म-व्याप्ति विश्वोत्तीर्ण अवस्था के अन्तर्गत है। और जब योगी अपने स्वरूप-आनन्द की अनुभूति करते करते शिव के सभी सर्वज्ञादि-गुणों को अपनाता हुआ शिव के साथ तन्मय बन जाता है तो उस योग की चरमावस्था को शिव-व्याप्ति कहते हैं - यह वह अवस्था है जहां समाधि और व्युत्थान में कोई भी भेद नहीं रहता।

करण-उपासना का विवेचन

अब प्रसंगवश करण-उपासना पर किंचित् प्रकाश डाल दिया जाता है। भगवान् शंकर ने त्रिशिरोभैरव तन्त्र में इस का विवेचन किया है। यह करण-उपासना सात प्रकार से वर्णन की गई है। इस का स्पष्टीकरण इन श्लोकों में है –

ग्राह्यग्राहकसंविच्छिव्याप्ति-
त्यागाक्षेपनिवेशनैः।
करणं सप्तधा प्राहु-
रभ्यासं बोधपूर्वकम्॥

अर्थात् ग्राह्य के द्वारा, ग्राहक के द्वारा, संविति के द्वारा, व्याप्ति के द्वारा, त्याग के द्वारा, आक्षेप के द्वारा और संनिवेश के द्वारा — इन सात प्रणालियों का आश्रय लेकर करण-उपासना की जाती है।

१ ग्राह्यरूपता में

योगी इन्द्रियों के विषय-ग्रहण-काल में आत्मानुसंधान से तनिक मात्र भी विचलित नहीं होता। उस समय विषयों के साथ संबन्धित होने पर भी वह योगी इस धारणा पर ठहरता है कि यह सारा हानादानादि व्यवहार मेरे स्वरूप से ही अर्थात् अहं-रूपता से ही प्रसारित हुआ है और उसी अहंरूप में ठहरा हुआ ही है – इस प्रकार विषय-ग्रहण-काल में भी उसकी मन्त्रशक्ति अर्थात् पूर्णाहंप्रतीति बनी ही रहती है — इस प्रकार ग्राह्य-प्रणाली से उस योगी को स्वरूप साक्षात्कार-रूप अवस्था प्राप्त होती है। स्मरण रहे कि इस प्रथम करण-उपासना का मन्त्र "इदमहम्" है क्योंकि इदन्ता का समावेश इस उपासना में अहन्ता में होता है।

२ ग्राहकरूपता में

इस दूसरी ग्राहक-प्रणाली से भी सजग योगी अहं-परामर्श-रूपता में ही समाविष्ट होता है। वह योगी प्रबल अनुसंधान से अपने स्वरूप में समावेश करता है, तत्पश्चात् उसी अहं-रूपता का विकास इस सारे संसार-मण्डल में अनुभव करता है। इस दूसरी ग्राहकरूप करण-उपासना से अपनी अहं-रूपता को प्रसार ही सर्वतः अनुभव करता है। इस उपासना का मन्त्र 'अहमिदम्' है, क्योंकि वह योगी सारे संसार में और उसके व्यवहारों में भी पूर्णरूप से संपूर्णरूपता से अहंभाव-निष्णात ही बना रहता है।

(३) चीतिः अथवा संविति में

संवित्ति के उपासक अत्यन्त सूक्ष्मतम-विचार से संयुक्त होते हैं। परसंवित्ति तत्वदृष्टि से समझ में नहीं आसकती। उसे तो सूक्ष्मतम विचार के द्वारा ही समझा जाता है। यतः परसंवित्ति का धाम प्रमातृ-भाव में ही स्थित है अतः वह कदापि वेद्य नहीं बनता। जब भी साधक परमशिव अथवा षट्त्रिंशत् शिव-तत्त्व को जानने का प्रयास करता है- वह उस का वेद्य न होकर सैन्तीसवें तत्त्व में ठहरा रहता है- और यदि साधक उस सैन्तीसवें शिवतत्त्व को पकडने का प्रयत्न करता है तो वह अठतीसवें तत्त्व में चला जाता है, और यदि फिर से उस अठतीसवें तत्त्व को पकडना चाहता है तो वह अठतीसवां तत्त्व सैन्तीसवें तत्त्व में चला जाता है। भाव यह है परमशिव का धाम सदैव परप्रमातृ-पद में ठहरा हुआ है, अतः वह परम-पद किसी भी अवस्था में किसी का प्रमेय नहीं बनता। इस प्रकार शिव-तत्त्व को समझना उसकी उपासना कही गई है। कहा भी है-

विज्ञातारमरे केन विजानीयात्

अर्थात् जो सबों को जानने वाला है उसे कौन जान सकता है। वह तो सदैव ज्ञातृ-पद में ठहरा हुआ है। इस प्रकार यथार्थ रूप से समझना इस प्रमातृपदस्थ संवित्ति की उपासना कही गई है।

(४) व्याप्ति में

इन्द्रियों की वृत्तियों में, ज्ञानदशा में, अज्ञानदशा में, हानादानादि व्यवहारदशा में, शिवभाव में, अशिवरूपता में जगद्वर्ती अवस्थाओं में, अन्तर्मुख अवस्था में, बहिर्मुख अवस्थाओं में तथा सभी निर्विकल्प और सविकल्प-दशाओं में तनिक मात्र भी स्वात्म-परामर्श से प्रचालित न होना व्याप्ति की उपासना मानी गई है। इसी व्याप्ति के दृष्टिकोण से आचार्य अभिनवगुप्त जी महाराज ने ये श्लोक अपने देवीस्तोत्र में कहे हैं-

तव च काचन न स्तुतिरम्बिके
सकलशब्दमयी किल ते तनुः।
निखिलमूर्तिषु मे भवदन्वयो
मनसिजासु बहिष्प्रसरासु च॥
इति विचिन्त्य शिवे शमिताशिवे
जगति जातमयत्नवशादिदम्।
स्तुतिजपार्चनचिन्तनवर्जिता
न खलु काचन कालकलास्ति मे॥

अर्थात् हे जगन्माता! जो कोई भक्त, किसी विशेष पुण्य-स्थान में आप की स्तुति करता है, वह तत्त्वदृष्टि से आप की स्तुति नहीं है, क्योंकि आप की स्वरूप-स्तुति संसार-वर्ति सारे शब्दों में है। इस लिए सभी संसार में ठहरी हुई मूर्तियों में, मन में ठहरी हुई मूर्तियों में तथा बाह्य घट-पट आदि मूर्तियों में ~~मुझे~~ आप के स्वरूप के साथ ही मेरा संबन्ध होता है। हे पार्वती! हे अकल्याणों को नाश करने वाली माता! इस प्रकार के विचार का आश्रय लेकर मुझे इस संसार में बिना प्रयत्न के यह बात सिद्ध हुई है कि मुझे [redacted] ऐसा कोई काल-क्षण प्रतीत नहीं होता जिस समय, मैं आपकी स्तुति, आप का जप, आप की पूजा और आप का स्मरण नहीं करता। भाव यह है कि सदा ही मैं आपकी स्तुति, आप का जप, आप की पूजा और आप के स्वरूप का चिन्तन करता ही रहता हूं। यही व्याप्ति रूपी उपासना की गौरवता है। इस प्रकार व्याप्ति में करण-उपासना का निर्णय समाप्त हुआ।

(५) त्याग में करण-उपासना

साधक जो भी कुछ कर्म करे उस सभी कर्मों को परमाशिव के ही अर्पण करना त्याग कहलाता है। इस प्रकार की त्याग-क्रिया से साधक अनायास ही परम-धाम में प्रवेश करता है। इस त्याग रूप उपासना को यह भगवद्गीता का श्लोक सूचित करता है—

> यत्करोषि यदश्नासि
> यज्जुहोषि ददासि यत्।
> यत्तपस्यसि कौन्तेय
> तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥

अर्थात् हे अर्जुन जो कर्म तुम करते हो, जो तुम खाते हो, जो तुम हवन करते हो, जो तुम दान देते हो और जो तुम तपस्या करते हो वह सभी मेरे स्वरूप में ही समर्पित करो। इस प्रकार कर्म करने को वास्तव में त्याग कहते हैं। इस त्याग रूप उपासना से साधक शुभाशुभ-कर्मों के बन्धनों में अवलिप्त नहीं होता। यतः समस्त कर्मों में उसे तनिक मात्र भी अभिमान नहीं रहता, क्योंकि कर्मों को करते हुए 'मैं यह कर्म करता हूं'— इस प्रकार की अहन्ता को अपने मन में स्थान ही नहीं देता।

⑥ आक्षेप में करण-उपासना

आक्षेप का तात्पर्य है कि जो भी कुछ संसार में होता रहता है उस सभी का करने वाला मैं ही हूं – इस प्रकार अपने में ही सभी कुछ आरोपित करना। जो भी कोई अन्य व्यक्ति कर्म करता है – उस सभी को मैं ही करता हूं – इस प्रकार निश्चय करने को आक्षेप कहते हैं। यह आक्षेप रूप धारणा धीरे धीरे परमशिव के पांच प्रकार के कृत्यों में भी आरोपण कर ली जाती है, जिस से वह साधक इस धारणा पर पहुंच जाता है कि शिव जो जगत की सृष्टि करता है, उसका पालन पोषण करता है, उसका संहार करता है, उसे प्रकृति में लय करता है और फिर उस जगत को अपने स्वरूप के साथ तादात्म्य-भाव करके उसका अनुग्रह करता है – वह सारा कुछ मैं ही करता हूं, मैं ही शिव हूं और मैं ही पञ्चविधकृत्यकारी परमात्मा हूं। इस प्रकार की धारणा पर पहुंच कर साधक उसी क्षण शिव के साथ तन्मयीभाव को प्राप्त करता है, फलतः साक्षात् शिव ही बन जाता है। इस प्रकार आक्षेप में करण-उपासना का दिग्दर्शन समाप्त हुआ।

⑦ संनिवेश में करण उपासना

संनिवेश – शब्द मुद्रावाचक है। मुद्राओं के स्वरूप का अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है। भैरवी मुद्रा, खेचरी मुद्रा, चकित मुद्रा, क्रोधना मुद्रा, और करङ्किणी मुद्रा इत्यादि शैव शास्त्रों में अनन्त प्रकार से परिभाषित की गई हैं। इन में से किसी भी मुद्रा में अपने शरीर को ठहरा कर किसी विशेष आसन पर बैठना चाहिये। स्वस्तिक आसन, पद्मासन इत्यादि किसी भी आसन पर बैठ कर मुद्रा से मुद्रित होकर निश्चलात्मिक स्थिति धारण करके एकाग्रता का सेवन करके स्वरूप-लाभात्म स्थिति को साधक प्राप्त करता है। केवल इन मुद्राओं का सेवन करने पर साधक का शरीर काष्ठ कुड्यवत् निश्चल होना चाहिए। इन मुद्राओं का प्रभाव यह है कि आप ही आप साधक का मन

स्थिर और एकाग्र बन जाता है । जिस के फल-स्वरूप साधक थोड़े समय में स्वरूपसाक्षात्कार रूप अवस्था को प्राप्त करता है । मुद्रा का लक्षण शैव-शास्त्रों में इस प्रकार किया है—

मुदं स्वरूपलाभाख्यं
देहद्वारेण चात्मनाम् ।
रात्यर्पयति यत्तेन
मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता ॥

मुद्रा का अर्थ है "मुदम्— स्वरूपलाभात्मकम् आनन्दं, राति— हृदये अर्पयति इति मुद्रा" अर्थात् साधक-जनों को जो स्वरूप-साक्षात्कार रूप परमामृत प्रदान करती है, उसे मुद्रा कहते हैं । आशय यह है कि जिस किसी मुद्रा से मुद्रित होकर साधक एकाग्रतापूर्वक बैठता है तो उसे थोड़े ही समय के पश्चात् स्वरूपलाभात्मक अमृत की वर्षा होती है और वह सदा के लिए परमामृत में संपूर्ण रूप से निष्णात हो जाता है । इन सभी मुद्राओं का स्वरूप आगे जाकर विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायेगा । इस प्रकार सात प्रकार की करण-उपासना का स्वरूप वर्णन किया गया । अब इस करण-उपासना के द्वारा योगी को कौन सा फल प्राप्त होता है — इस बात को यह श्लोक स्पष्ट करता है—

अर्थेषु तद्भोगविधौ तदुत्थे
सुखे दुःखे वा गलिताभिशङ्कम् ।
अनाविशन्तोऽपि निमग्नचित्ता
जानन्ति वृत्तिक्षयसौख्यमन्तः ॥

अर्थात् करण-उपासना करने में कुशलतम और प्रवीण साधक शब्दादि विषयों में, विषयों को भोगने में तथा भोग-काल में प्रकट हुए सुखों में तथा दुःखों में प्रवेश नहीं करते हैं — इस प्रकार संसार में विद्यमान सभी विषयों में अनासक्त होकर निर्विकल्प-दशा का आश्रय लेकर अपने हृदय में निर्विकल्प रूपी आत्यन्तिक सुख को प्राप्त करते हैं और जीवन्मुक्ति के स्वाराज्य को पा लेते हैं ।

अब प्राप्तावसर वर्ण-तत्त्व का तनिक-मात्र विचार करेंगे।

वर्ण-तत्त्व+ का निर्णय

त्रिक-शास्त्रों में वर्णों का स्वरूप दो प्रकार का होता है। स्थूल वर्ण और सूक्ष्म वर्ण। अकार से ले कर क्ष वर्ण तक सारे वर्ण स्थूल-वर्णों के नाम से कहे गए हैं। चूंकि ये सभी वर्ण तालु आदि स्थान तथा आस्य-प्रयत्न के संयोग से अथवा विभाग से उत्पन्न होते हैं— इन्हें संयोग-विभाग-जन्य स्थूल वर्णों के नाम से वर्णन किया गया है। ये सभी वर्णों के शब्द हत शब्द अथवा आहत शब्द कहे जाते हैं। क्योंकि ये सारे शब्द दो के संयोग से अथवा विभाग से ही उच्चरित होते हैं। पर जो वर्ण समाधि में प्रवेश करने के समय योगी को प्रतीत होते हैं, वे न किसी वस्तु के संयोग से ही उत्पन्न होते हैं और न किसी वस्तु के विभाग से। भाव यह है कि इस प्रकार की ध्वनि हत-शब्द अथवा आहत-शब्द न होकर अनाहत-ध्वनि नाम से ही वर्णन की गई है। इसी अनाहत शब्द के साथ यहां वर्णतत्त्व का संबन्ध है। इस अनाहत शब्द का निर्णय इस निम्न-श्लोक में है—

> नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते।
> स्वयं उच्चरते देवः प्राणिनामुरसि स्थितः॥

अर्थात् इस अनाहत-ध्वनि का उच्चार करने वाली कोई वस्तु नहीं है और इस ध्वनि को कोई भी शक्ति रोक नहीं सकती। अपितु यह अनाहत-ध्वनि रूप वर्ण सजग प्राणियों के हृदय में ठहरा हुआ आप ही आप उच्चरित होता है। स्मरण रहे कि समाधि में सजग योगी इस वर्ण-तत्त्व का साक्षात्कार अहंपरामर्श-रूपता से ही करते हैं। इसीलिए इस वर्ण-तत्त्व की एकता अहंपरामर्श के साथ बनी है, या यूं कहा जाये कि वर्ण-तत्त्व ही अहंपरामर्श का स्वरूप है और अहंपरामर्श ही वर्ण-तत्त्व का स्वरूप है। यहां यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि आणवोपाय के उच्च कोटि के साधक ही इस वर्ण-तत्त्व की उपासना करने में समर्थ हैं, और अन्य नहीं।

\+ इस वर्ण-तत्त्व को अन्य आचार्यों ने महासत्ता, स्फुरत्ता तथा परमशिव का हृदय करके आदरपूर्वक वर्णन किया है। इस से पाठकों को यह निश्चय करना चाहिये कि जो उपेय शाम्भवोपाय से प्राप्य है, वही उपेय आणवोपाय से भी प्राप्त किया जाता है। तात्पर्य यह है कि सर्व उपायों का भेद होते हुए भी उपेय का कोई भी भेद नहीं है।

इस प्रकार अनुत्तर-ध्यान से लेकर वर्ण-तत्त्व उपासना तक अत्यन्त गूढ आणवोपाय-मण्डल का निर्णय समाप्त हुआ। यह उपाय-मण्डल उच्च-कोटि के आणवोपाय-साधकों के लिए कहा गया है। अब प्राप्तावसर मध्य-कोटि के आणवोपाय-साधकों के लिए प्राणों के आश्रित स्थानभेद रूप उपाय क्रम निर्णय किया जा रहा है।

प्राणाश्रित विधान

प्राणाश्रित विधान वर्णन करने से पहिले हम यह वर्णन करना चाहते हैं कि प्राणों का प्रादुर्भाव कहां से हुआ है। प्राणों का महत्व क्योंकर आदर-पूर्वक शास्त्रों में दिखाया गया है।

तत्त्व-दृष्टि से प्रकाश-विमर्श रूप जो शुद्ध शिव का संवित्-धाम है,* वही संविद्धाम जब बाह्य-जगत की ओर प्रसर करता है, तो प्रथम में वह शिवात्मक संविद्धाम का आच्छादन करते ही प्राणनरूपता में परिणत होजाता है। प्राणनरूपता ही शिव की पहिली बहिर्भावात्मिका प्रसररूपता है, और उसी पहिली प्रसरात्मिका दशा से पांच प्रकार प्राणों का उदय होता है। पाठकों को यह निश्चय करना चाहिए कि इन प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान पाँच प्राणों को चिदात्मा परमेश्वर के साथ अकाट्य संबन्ध है, यतः ये पांच प्राण शिव का प्रथम-प्रसर है, तभी तो इन पांच प्राणों के अभ्यास से शीघ्र ही शिवसाक्षात्कार रूप स्थिति प्राप्त होती है। अतः हमारे आचार्यों ने इन पांच प्राणों के अभ्यास को सर्वोपरि उत्कृष्ट रूपता ही कही है।

पहिले हम इन पांच प्राणों का स्वरूप और उनके लक्षणों का वर्णन करेंगे। तत्पश्चात् क्रम-पूर्वक इन की उपासना पर प्रकाश डाल दिया जायेगा।

परसंवित्ति जब बाह्य-रूपता में प्रसारित होती है, तो पूर्व-भाग में वह प्राणनरूपता में परिणत हो जाती है। प्राणनरूपता एक अवस्था है, जैसे जब बच्चा पेट में बनने लगता है, प्रथम में वह केवल पिण्ड-आकार से प्रकट होता है। उस पिण्ड में केवल जीवन-रूपता ही रहती है, सांस की ऊपर नीचे की गति नहीं होती। इसी अवस्था की ओर यहां प्राणनरूपता में संकेत है। फिर दूसरी अवस्था में श्वास-प्रश्वास की गति प्रकट होती है, जिस अवस्था में पांच प्राण अपना अपना कार्य करने लगते हैं।

प्राणवायु का स्वरूप

प्राणवायु हृदयस्थान से बाह्य-द्वादशान्त के स्थान तक बाहर सञ्चार करता है और फिर से बाह्य-द्वादशान्त से हृदयस्थान तक भीतर सञ्चरित होता है। ऐसे ही प्राणसंचार दिन रात अनथक रूप से चलता रहता है। इस प्राणवायु के सञ्चार करने में मनुष्य को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। कहा भी है—

मनोऽप्यन्यत्र निक्षिप्तं
चक्षुरन्यत्र पातितम्।
तथा प्रवर्तते प्राण-
स्त्वयत्नादेव सर्वदा॥

अर्थात् यद्यपि मनोवृत्ति किसी ओर चली गई हो। अथवा यद्यपि मनुष्य की इन्द्रियवृत्तियां अपना अपना कार्य भी करती हों, तथापि बिना किसी यत्न के आप ही आप प्राण-सञ्चार सदैव होता रहता है। इस प्रकार प्राण-वायु के स्वरूप का शास्त्रों में वर्णन किया गया है।

अपान-वायु का स्वरूप

अपानवायु का निवासस्थान मेढ्रकन्द है। वहां से ही अपानवायु प्रसर भी करता है और वहां ही प्रवेश करता है। मल-मूत्र के बहिः निकालने का काम अपान-वायु ही करता है, तथा मल-मूत्र को बाहर निकालने की क्रिया को आवश्यकता के अनुसार रोकता भी है। पायु-इन्द्रिय और उपस्थ-इन्द्रिय में संकोच तथा विकास करने में अपानवायु ही समर्थ है। इस के अतिरिक्त पेट में एकत्रित बने हुए दुर्गन्ध-युक्त वायु को भी बाहर निकाल देता है। यह अपान-वायु मेढ्रकन्द से ही प्रसारित होकर मेढ्रकन्द में ही ठहरा रहता है। आचार्य अभिनवगुप्त जी महाराज की धारणा है कि अपान-वायु का प्रसरात्मक सञ्चार हृदय से मत्तगन्ध-स्थान तक होता है और प्रवेशात्मक सञ्चार मत्तगन्ध-स्थान से हृदयस्थान तक होता रहता है। किन्तु विशेष रूप से यह अपानवायु का प्रसरात्मक तथा प्रवेशात्मक संचार मत्तगन्ध-स्थान अथवा मेढ्रकन्द से ही स्पष्ट रूपता से दिखाई देता है।

समान-वायु का स्वरूप

यद्यपि समानवायु का उद्गमस्थान हृदय ही है तथापि समानवायु प्रधान रूपता से नाभि-देश से ही उदय करता है। समानवायु देह में स्थित कफ, वात और पित्त का वैषम्य दूर करता है और देह में समानवायु के होने से कफ, वात और पित्त की न्यूनाधिकता नहीं रहती। हमारे आचार्यों की धारणा है कि समानवायु का सञ्चार नाभि-देश से आरम्भ होता है और हृदयस्थान पर विश्राम करता है। हृदयस्थान पर पहुंच कर समानवायु के बल से प्रथम में हृदयस्थान से दस मुख्य नाडियां उदित होती हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिए निम्नलिखित श्लोक है—

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयिका।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैवार्यमा तथा॥
अलम्बुसा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता।

अर्थात् दस नाडियों के नाम ये हैं— इडा नाडि, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, अर्यमा, अलम्बुसा, कुहू- नाडी और शङ्खिनी नाडी। ये ही दस नाडियां समानवायु के द्वारा हृदय से प्रकट होती हैं। इन दस नाडियों से बहत्तर हज़ार नाडियां उदय करती हैं और इन बहत्तर हज़ार नाडियों से अन्य असंख्य नाडियां उदय करती हैं। फल-स्वरूप समानवायु के द्वारा ही मनुष्य का शरीर उपरोक्त असंख्य- नाडियों से प्रपूरित रहता है जिस से मनुष्य के शरीर में किसी विषमता-सूचक रोग का अविर्भाव नहीं होता। हां समानवायु की विषमता ही समस्त शारीरिक रोगों को जन्म देती है। समानवायु की विषमता से ही हृदय में शोक, क्रोध, विषाद, विस्मय, सन्ताप तथा हर्ष— इत्यादि विकारों का प्रादुर्भाव होता है। अत एव समानवायु इस को इस लिए कहते हैं कि—

'देहे समननात्समाननामायं'

देह में कफ, वात, पित्त आदि वस्तुओं को समान-भाव से रखने के कारण यह समानवायु कहलाता है। यह कहना यहां अप्रासंगिक न होगा कि योगियों को कदापि समान- वायु का कोप नहीं होता, तभी तो वे सदैव शान्त तथा आनान्दित अवस्था में ~~सस~~ रहते हैं।

उदानवायु का स्वरूप

उदानवायु का सञ्चार हृदय से शक्तिद्वादशान्त तक होता है। उदानवायु ही समस्त खाद्य-पदार्थों को पचाता है और शरीर में पाचन-शक्ति प्रदान करता है। प्राणवायु की सञ्चार-क्रिया तथा उदानवायु की सञ्चारक्रिया में इतना ही अन्तर है कि प्राणवायु का सञ्चार हृदय से बाह्य-द्वादशान्त तक होता है और उदानवायु का सञ्चार हृदय से ऊर्ध्वद्वादशान्त तक अथवा शक्तिद्वादशान्त तक होता है। इस के अतिरिक्त प्राणवायु की सञ्चारक्रिया में ~~यह अन्तर है कि~~ और उदानवायु की सञ्चारक्रिया में यह दूसरा अन्तर है कि प्राणवायु का सञ्चार मनुष्य को स्फुटरूपता से प्रतीत होता है पर उदानवायु का संचार अत्यन्त सूक्ष्म होने से प्रतीत नहीं होता। परन्तु प्राणजित योगी उदानवायु का संचार भी अनुभव करते हैं, यतः उन्हें सूक्ष्मतम-धिषणा होती है।

व्यानवायु का स्वरूप

व्यान-प्राण वह वायु है जिसके होने से शरीर में स्तब्धता नहीं होती। यह व्यान-प्राण शरीर के सारे अंगों में जीवन देता है। यह व्यान-प्राण सारे देह में व्यापक रूपता से ठहरा रहता है। ~~इस~~ यद्यपि इस व्यान-प्राण में स्थूल रूप से सञ्चार नहीं होता, तथापि अत्यन्त सूक्ष्मरूपता से इसवायु की स्पन्दनरूपता योगियों को दीख पड़ती है, दूसरे शब्दों में कहा जायेगा कि इस की सूक्ष्मातिसूक्ष्म उच्छलद्रूपता परधारा में स्थित योगियों को प्रतीत होती है। ~~इत्यतः~~ अतः ~~यहै~~ इस व्यानवायु को आचार्यों ने निम्नलिखित तीन विशेषणों से अलंकृत किया है। यह व्यानवायु विश्वात्मा है क्योंकि सारे जगत में यह सूक्ष्मरूप से ठहरा हुआ है। यह व्यापक है, क्योंकि देह में शिखा से लेकर नखाग्र तक यह व्यापक रूपता से ठहरा हुआ है। यह क्रमवर्जित है, यतः इस में भीतर जाने का और बाहर निकलने का कोई क्रम नहीं है।

इन उपरोक्त पांच प्राणों की क्रम से में सृष्टि, पिधान, स्थिति, संहार और अनुग्रह- इन पांच कृत्यों की व्याप्ति शास्त्रों में वर्णन की गई है। प्राण-वायु की व्याप्ति सृष्टि में, अपान-वायु की व्याप्ति पिधान में, समान-वायु की व्याप्ति स्थिति में, उदान-वायु की व्याप्ति संहार में और व्यान-वायु की व्याप्ति अनुग्रह में विद्यमान है।

अब प्राप्तावसर प्राणवायु के श्वास-प्रश्वास में मध्यम-श्रेणि के आणवोपाय-साधकों के लिए उपासना का क्रम निर्णय किया जा रहा है।

प्राणसंचार का विधान

प्राणवायु हृदय से बाह्यद्वादशान्त तक बाहर की ओर संचार करता है और फिर से बाह्यद्वादशान्त से हृदय तक भीतर चला जाता है। हृदय से बाह्यद्वादशान्त तक ३६ अंगुलों का संचार होता है और बाह्यद्वादशान्त से हृदय तक भी भीतर से ३६ अंगुलों का सञ्चार होता रहता है। यह ३६ अंगुलों का सञ्चार १६ तुटियों में विभक्त हुआ है। स्मरण रहे कि इस प्राण के उच्छ्वास और निःश्वास में प्रत्येक तुटि सवा दो अंगुलों के स्थान पर आती है इसी बाहर निःश्वास में और भीतर उच्छ्वास में १६, १६ तुटियों का स्थान लिया जाता है। इस बाहर और भीतर के प्राणसंचार में हृदय के संधिस्थान में और बाह्यद्वादशान्त के सन्धिस्थान में प्राणसंचार दो तुटियों का स्थान लेता है और शेष पंद्रह पंद्रह तुटियां बाह्य तथा भीतर के सञ्चार में ग्रहण की जाती हैं। इस प्राण-संचार के काल में योगी को इन दो सन्धियों के स्थानों पर सजग रहना चाहिये। इन्हीं दो सन्धियों में बार बार अनुसंधान करने से योगी स्वरूपसाक्षात्काररूप अवस्था को प्राप्त करता है। इस प्रकार श्वास प्रश्वास रूपता में योगी को सावधान रहना चाहिए। विशेष कर दो संधियों में कटिबद्ध होकर अनुसंधान करना अत्यन्त आवश्यक है। साथ ही इस प्राणसंचार के समय मन्त्र का भी उच्चारण मन से ही करना चाहिए। वह मन्त्र भी आचार्यों ने इस प्रकार कहा है —

> सकारेण बहिर्याति हकारेण विशेत्पुनः।
> हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति नित्यशः॥
> षट् शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः।
> जपो देव्याः समुद्दिष्टः सुलभो दुर्लभो जडैः॥

अर्थात् स मन्त्र का उच्चारण करते प्राणवायु बाहर की ओर सञ्चार करता है। ह मन्त्र का उच्चारण करते हुये भीतर की ओर सञ्चार करता है। इसप्रकार इस हंस मन्त्र का जप दिन रात इक्कीसहज़ार छे सौ बार चलता

रहता है। सजग योगियों के लिए यह जप अजपा महागायत्री का सुलभ है। भाव यह है कि यदि सजग अवधानपरायण योगी-जन इस मन्त्र का जप सवेरे से शाम तक करेंगे तो उन्हें निद्रावस्था में भी यह जप अनुसन्धानपूर्वक बना ही रहता है। इस के उलट जो योगी इस का अनुसन्धान अनथक रूप से सवेरे से शाम तक नहीं कर पाते उन्हें यह जप निद्रावस्था में नहीं चलता, फलतः उनके लिए यह जप दुर्लभ बन जाता है। इत्यतः इस से यह उपदेश भी मिलता है कि योगी को सदैव अनुसंधान-तत्पर बना रहना चाहिए, तभी तो इस महा गायत्री के जप की सफलता हो जाती है। यह दूसरी बात भी ध्यान रखने योग्य है कि प्राणवायु के हृदयस्थान से प्रसर करने को विशेष रूप से प्राण-संचार के नाम से माना गया है और प्राणवायु के बाह्य-द्वादशान्त से हृदयस्थान की ओर प्रवेश करने को अपान-वायु के संचार के नाम से अलंकृत किया है। इस प्रकार प्राणसंचार बाहर बाह्यद्वादशान्त की ओर प्रसारित होता है और अपानवायु भीतर हृदयस्थान की ओर प्रवेश करता है। स्मरण रहे इस अभ्यास में योगी को सदैव अर्थात् प्राणवायु के सञ्चार काल में तथा अपानवायु के सञ्चार काल में प्राणापान की भीतरी और बाहरी संधियों में सावधान रहना चाहिये। इस विषय को यह श्लोक स्पष्ट करता है—

❀ न दिवा पूजयेद्देवं रात्रौ नैव च नैव च।
अर्चयेद्देवदेवेशं दिनरात्रिपरिक्षये ॥

अर्थात् दिन में अर्थात् प्राणों के बाहर संचार करने के समय चिदात्मा प्रभु की पूजा नहीं करनी चाहिये। रात्रि में भी अर्थात् अपान-वायु के प्रवेशात्मक संचार-दशा में भी स्वात्मदेव की अर्चना नहीं करनी चाहिये। किन्तु शिवरूप स्वात्मदेव की पूजा उसी समय करनी चाहिये, जब दिन तथा रात्रि की समाप्ति होती है।

❀ इस श्लोक में दिन से प्राणवायु का संकेत मिलता है और रात्रि से अपानवायु का संकेत समझना चाहिये। इस के अतिरिक्त दिन तथा रात्रि के समाप्त होने के समय को प्राणवायु तथा अपानवायु की दो प्रकार की संधियों की ओर संकेत समझना चाहिये।

इस प्राणापान के अभ्यास के विषय में यह बात समझनी चाहिए कि हृदय-स्थान की संधि को आदि-कोटि कहते हैं और बाह्यद्वादशान्त की संधि को अन्तःकोटि के नाम से कहा जाता है। इन दोनों सन्धियों पर एकाग्र होकर बार बार अनुसंधान करने को आद्यन्तकोटि-निभालन कहते हैं। योगी जब इस आद्यन्तकोटि का परामर्श करता है, तो थोडे ही समय के पश्चात् उस के प्राण मध्य-धाम अर्थात् सुषुम्ना नाडी में लय हो जाते हैं जिस के फल-स्वरूप उसे चिदानन्द-स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। इस के लिये यह सूत्र प्रमाण है -

मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः।

अर्थात् मध्य-धाम के विकास से योगी को चिदानन्द-रूपता का लाभ होता है। इस आदि-अन्तकोटि का अभ्यास करना शिखाबन्धन कहलाता है। शिखा प्राण-शक्ति को कहते हैं, और जब योगी इस प्राण-शक्ति को हृदय तथा बाह्यद्वादशान्त इन दो स्थानों में अनथकरूप से अनुसंधान करता हो फिर उसे शिखाबन्धन की स्थिति का अनुभव होता है और इस के फल-स्वरूप उस के प्राणवायु परसंविद्धाम में प्रवेश करते हैं, तत्पश्चात् वह शिवभाव-रूप अवस्था को प्राप्त करके सदा के लिए जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होजाता है। इस परमाशिव अवस्था को प्राप्त करके आचार्यों ने उसे जित-प्राण नाम से अलंकृत किया है। अर्थात् वह योगी प्राणों पर विजय प्राप्त करता है। इस प्रकार अकाल-कलित अवस्था को प्राप्त करके एक ही प्राण-सञ्चार में क्रिमि के काल से लेकर सदाशिव के संपूर्ण काल का अनुभव करता है, जिस के फल-स्वरूप उसके लिए संपूर्ण परसंविद्धाम का साम्राज्य बना रहता है। इसी अनुसंधान से काकभुशुन्डी चिरजीवी बन गये। इसी अभ्यास से साधक ईश्वर पदवी अथवा सदाशिव-पदवी पर पहुंच गये हैं और इसी अभ्यास के फल-स्वरूप हमारे गुरु, परमगुरु और परमेष्ठि-गुरु परमाशिव पदवी प्राप्त कर चुके हैं।

इस प्रकार मध्य-धाम के विकास से प्राणजित योगी अपने एक ही प्राणसञ्चार में सभी नव-ग्रहों, आठ लोक-पालों, आठ नागों, आठ रुद्र-मूर्तियों का उदय तथा अस्त का अनुभव करता है।

नव ग्रहों के नाम यह हैं— सूर्य, सोम, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र, शनैश्चर, राहु और केतु।

आठ लोक-पालों के नाम ये हैं— इन्द्र, अग्नि, यम, नैऋति, वरुण, वायु, कुबेर और ईशान।

अष्टनागों के नाम ये हैं— अनन्त, वासुकि, तक्षक, कार्कोट, पद्मनागराज, महापद्म, शङ्ख और कुलिक।

आठ मूर्तियों के नाम ये हैं— भव, शर्व, रुद्र, पशुपति, उग्र, महादेव, भीम और ईशान।

इस के अतिरिक्त बारह मासों पर शासन करने वाले बारह रुद्र जो क्रम से कार्तिक मास, मार्ग मास, पौष मास, माघ-मास, फाल्गुन-मास, चैत्र मास, वैशाख-मास, ज्येष्ठ-मास, आषाढ-मास, श्रावण-मास, भाद्र और आश्वयुज मास का भोग करने वाले दक्षरुद्र, चण्डरुद्र, हर-रुद्र, शौण्डी रुद्र, प्रमथरुद्र, भीमरुद्र, मन्मथरुद्र, शकुनि रुद्र, सुमति रुद्र, नन्दरुद्र, गोपाल रुद्र और पितामह रुद्र हैं— उन सभी बारह रुद्रों का उदय और अस्त उपरोक्त प्राण-जित योगी अपने एक ही प्राण-सञ्चार में अनुभव करता है। इस प्रकार कालाग्नि-रुद्र से लेकर अनाश्रित-शिव तक समस्त कालचक्र का अनुभव यह मध्य-धाम में प्रतिष्ठित योगी अपने एक ही प्राणसंचार में करता है। कहने का तात्पर्य है कि ऐसा योगी शिव के तुल्य ही माना गया है। कहा भी है—

शिवतुल्यो जायते।

देहकलाया आविगलनात् तत्समो जायते। देहपाते तु परमशिवभैरवभट्टारको भवत्येव।

अर्थात् देह-रूपता के होने से ऐसा योगी शिव-समान माना गया है, परन्तु देहपात के अवसर पर ऐसा योगी परमशिव-भट्टारक ही बन जाता है।

इस प्रकार यह प्राणों के आश्रित उपासना की व्याख्या विशद रूपता से समाप्त हो गई।

इसी प्रकार प्राणाजित् योगी अपानवायु की उपासना का आश्रय लेकर कन्द-स्थान में ठहरी हुई संकोच-विकास-दशा में, समान-वायु की उपासना में हृदयस्थान में ठहरी हुई स्पन्दन-दशा में, उदान-वायु के अभ्यास-क्रम में नाभि-देश में ठहरी हुई उज्ज्वल-रूपता में तथा समस्त-शरीर में ठहरी हुई व्यान-रूपता की उद्यन्तृता-पद में निवृत्ति-कला में स्थित सभी भुवन-मण्डलों से ले कर शान्ता-कला में स्थित समस्त-भुवनों के उदय और लय होने के काल-चक्र का अनुभव अपने स्वरूप में ही अनुभव करता है। इस प्रकार यह योगी अकाल-कलित बन कर पराशिव-दशा में ही संपूर्ण रूप से ठहरा रहता है। इसी कारण शास्त्रों में यह योगी चक्रेश्वर के नाम से पुकारा गया है।

यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि प्राणवायु के पूर्वोक्त अभ्यास क्रम से जिस योगी ने मध्य-धाम में प्रतिष्ठित होने के कारण प्राणों पर संपूर्णरूपता से विजय प्राप्त किया हो, उसे स्वयं अनायास ही अपानवायु, समानवायु, उदानवायु और व्यानवायु की प्रभुता प्राप्त होती है, अतः प्राणवायु के अभ्यास का निर्णय विस्तार-पूर्वक किया गया। इसी कारण अपानवायु, समानवायु, उदानवायु और व्यानवायु के अभ्यास-क्रम का विस्तारपूर्वक निर्णय करने की आवश्यकता नहीं थी, अत एव इन के उपायों का निर्णय संक्षेप से ही किया गया।

❀ निवृत्ति-कला, प्रतिष्ठा कला, विद्या-कला, शान्ता-कला और शान्तातीता कला शास्त्रों में कही गई हैं। इन पांच कलाओं से पहिली ४ कलाओं में ही संसार-मण्डल, जो चार अण्डों में विभक्त हुआ है, ठहरा हुआ है। भाव यह है निवृत्तिकला के अन्तर्गत पृथिवी-अण्ड है, प्रतिष्ठा में प्रकृत्यण्ड है, विद्याकला के अन्तर्गत मायाण्ड है और शान्ता कला में शक्त्यण्ड ठहरा हुआ है। इन्हीं चार अण्डों में एकसौ अठारह भुवन ठहरे हुए हैं। इस के अतिरिक्त शान्तातीताकला में कोई भुवन नहीं है। कहा भी है—

'शान्तातीता त्वभुवनैव,'

अर्थात् शान्तातीता कला में कोई भुवन नहीं है। इस अन्तिम पांचवी कला में परमाशिव ही है।

चक्रोदय-प्रकरण

अब प्राप्तावसर चक्रोदय-उपासना का निर्णय किया जा रहा है। यह (उपासना भी) प्राण-सञ्चार की उपासना भी उच्च कोटि के साधकों के लिए कही गई है। इस की विधि यह है कि यहां साधक को प्राणों का सञ्चार स्वाभाविक प्राण-सञ्चार से कुछ विशेषरूपता से करना होता है इत्यतः यह उपासना यत्नपूर्वक की जाती है। कहा भी है—

इत्ययत्नजमारव्यातं
यत्नजस्तु निगद्यते।

अर्थात् हम प्राणों की अयत्न-साध्य उपासना कह चुके हैं अब हम प्राणों की यत्न-साध्य उपासना वर्णन करेंगे। पूर्व में हम ने स्वारसिक प्राणों के श्वास-प्रश्वास के संबन्ध में कहा है कि दिन रात प्राणों के श्वासप्रश्वासों की संख्या इकीस हज़ार छःसौ होती है। किन्तु योगी को इस चक्रोदय की उपासना में धीरे धीरे श्वास-प्रश्वासों का समय बढ़ाना है। अर्थात् प्राणों का श्वास-प्रश्वास काल, स्वाभाविक रूप से जितना हो उस से द्विगुण काल एक श्वास-प्रश्वास में लगना चाहिए। अत एव यहां बड़े प्रयत्न से धीरे धीरे साधक को प्राण-सञ्चार की क्रिया करनी चाहिए, जिस से कि दिन रात में उस के प्राणों का श्वास-प्रश्वास इकीस-हज़ार छः सौ बार न होकर दसहजार आठ सौ बार ही प्रवहित होगा। इस को स्पष्ट करने के लिए यह कहा है—

'खे रसैकाक्षि नित्योत्ये
तदर्धं द्विकापिण्डके।

अत्र द्विकापिण्डके-साधने स्वारसिकप्राणचारद्वय-
कालस्यैकप्राणचारतयोदयस्य चिकीर्षितत्वम्।'

अर्थात् स्वाभाविक रूप से दिन रात में प्राणचारों की संख्या २१६०० है, और इस चक्रोदय उपासना में प्राणचारों की संख्या दिन रात में उस से आधी होनी चाहिये। अत एव इस साधना में योगी को इस प्रकार प्राणों का संचार धीरे २ करना चाहिए जिस से स्वाभाविक दो प्राण-सञ्चार काल में केवल एक ही प्राणापान संचार प्रवाहित हो जाय।

इस प्रकार धीरे धीरे प्राणसञ्चार करने के साथ साथ हृदयस्थान और बाह्यद्वादशान्त पर आद्यन्तकोटि का निभालन करना अत्यन्त आवश्यक है। इस के फल स्वरूप थोड़े ही समय के अभ्यास से साधक को प्राणसञ्चारों के धीरे धीरे चढ़ाने और उतारने का अभ्यास स्वाभाविक बन जाता है और किसी परिश्रम के बिना उसे ऐसे ही प्राणों का सञ्चार बना रहता है और फिर ऐसा दिन रात करने से उसे चिदानन्द-स्वरूप का साक्षात्कार होता है। तत्पश्चात् उस के प्राणचारों की संख्या दिनरात में सदा ही २१६०० न हो कर ~~१०८००~~ १०८०० ही बन जाती है। ऐसा ही योगी चक्रोदय की उपासना करने में सिद्धहस्त बन जाता है। ऐसी उपासना करने का फल इस श्लोक में कहा है—

एवं प्रयत्नसंरुद्ध-
प्राणचारस्य योगिनः।
क्रमेण प्राणचारस्य
ग्रास एवोपजायते॥

अर्थात् इस प्रकार प्रयत्न से जिस योगी ने अपने प्राणों की गति नियमन की हो, उसे थोड़े ही समय के पश्चात् प्राणों का सर्वथा ग्रास ही होता है और वह योगी प्राण-ग्रास-समाधि-स्थ ही कहा जाता है। इत्यतः इस प्राण-ग्रास-समाधि में निष्णात सदैव निर्विकल्पावस्था में ही ठहरा रहता है, यतः प्राणसंचार से ही मनुष्य संकल्पविकल्पों का शिकार बन जाता है और यदि उस ने अपने प्राणों का नियमन किया तो अनायास ही उसे संकल्पविकल्पों का नियमन बना ही रहता है। इस कथन की ओर इस श्लोक में संकेत है—

प्राणग्रासक्रमावाप्त-
कालसंकर्षणास्थितिः।
संविदेकैव पूर्णा स्या-
ज्ज्ञानभेदव्यपोहनात्॥

अर्थात् प्राणग्राससमाधि के द्वारा योगी की संवित्ति काल-संकर्षण रूप पूर्णा होने से सदैव निर्विकल्प-धाम में ही चमकती रहती है।

इस के पश्चात् द्विकापिण्डक चक्रोदय की उपासना करने के पश्चात् बड़े प्रयत्न से त्रिकापिण्डक चक्रोदय की उपासना में आगे बढ़ना है। इस उपासना में साधक अपने प्राणसंचारों को और भी अधिक दीर्घता प्रदान करता है - इस के फलस्वरूप साधक के प्राणसंचारों की संख्या दिनरात में केवल सात हज़ार दो सौ ही होती है। इस उपासना में सिद्धहस्त होने के पश्चात् साधक धीरे धीरे प्राणसंचारों को बड़े प्रयत्न से दीर्घता प्रदान करके अन्त में यह साधक चक्रेश्वर की पदवी प्राप्त करता है और उस पदवी पर प्राणों को अत्यन्त दीर्घ बनाने से दिन रात में केवल दो सौ बार ही प्राणों का सचार करता है। बस यहां चक्रोदय की उपासना अन्तिम दशा पर पहुंचती है। इस अवस्था पर पहुंच कर योगीराज सदैव परम-धाम में ठहरा रहता है। इस अवस्था पर पहुंच कर वह संसार-मण्डल-वर्ती काल-चक्र की प्रभुता का स्थान प्राप्त करता* है। कहा भी है-

वस्तुतो ह्यत एवेयं
कालं संविन्न संस्पृशेत्।

अर्थात् यह संविद्धाम की वह पारमार्थिक स्थिति है, जहां किसी प्रकार की कालकलना नहीं पाई जाती।

यह आचार्य उत्पलदेव का श्लोक भी यही सिद्ध करता है-

न सदा न तदा न चैकदे-
त्यपि सा यत्र न कालधीर्भवेत्।
तदिदं भवदीयदर्शनं
न च नित्यं न च कथ्यतेऽन्यथा॥

अर्थात् जिस परमधाम की सर्वोत्कृष्ट-दशा में सदा, तदा, एकदा और सर्वदा- इस प्रकार की काल-कलना का ज्ञान नहीं रहता। वही तो हे प्रभो! आप के स्वरूप की साक्षात्कार-रूप दशा कहलाई जाती है; जो अवस्था न नित्य है और न अनित्य है।

---

* भाव यह है कि प्राणसंचार-क्रिया पर ही संकल्पविकल्प बने रहते हैं- इत्यतः प्राणसंचारों के अभाव पर संकल्पविकल्प स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं।

इस उपासना को चक्रोदय इस लिए कहा गया है कि इस अभ्यास से साधक क्रमशः चक्रों के वेधन का अनुभव करता है। हमारे गुरुदेव का आदेश है कि इस की उपासना निम्नलिखित विधि से करनी चाहिए —

योगी को पद्मासन लगा के प्राणसञ्चार को बहुत ही दीर्घ बना कर चढ़ाना और उतारना चाहिए और साथ ही हृदय-स्थान में तथा बाह्यद्वादशान्त के स्थान का अनुसंधान हर एक प्राणसंचार के साथ करना चाहिए। ऐसा अभ्यास करते करते इस बात का ख़याल रखना अत्यन्त आवश्यक है कि शरीर में किसी प्रकार की चलायमानता नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार थोड़े समय के पश्चात् योगी के प्राण अत्यन्त सूक्ष्म बन जाते हैं। तत्पश्चात् उस के प्राण स्वतः ही सुषुम्ना नाड़ी में लय होजाते हैं। ये प्राण-प्रवाह सीधे ही मूलाधार-स्थान पर पहुंचते हैं। वहां योगी मूलाधार स्थान में मूलाधार-चक्र के अत्यन्त वेग से घूमने का अनुभव करता है। तत्पश्चात् मूलाधार-चक्र से यह प्राणप्रवाह नाभि-चक्र तक ऊपर चढ़ता है। उस दशा में योगी दोनों मूलाधार-चक्र तथा नाभि-चक्र - इन दोनों चक्रों के घूमने का अनुभव करता है। इस के अनन्तर नाभिचक्र से हृदय-स्थान के चक्र तक यह प्राण-प्रवाह ऊर्ध्व-गमन करता है। वहां योगी मूलाधार-चक्र, नाभि-चक्र और हृदय-चक्र - इन तीनों चक्रों का घूमना एक साथ अनुभव करता है। इस के अनन्तर हृदय-चक्र से योगी का प्राणप्रवाह आप ही आप ऊपर कण्ठस्थान के चक्र की ओर प्रवाहित होता है। उस समय योगी मूलाधार-चक्र से लेकर कण्ठस्थान में ठहरे हुए चक्र तक सभी चक्रों के वेगपूर्वक एक साथ ही घूमने का अनुभव करता है। तत्पश्चात् योगी के मध्यनाडी में ठहरा हुआ प्राण-प्रवाह अनायास ही तालु में स्थित चक्र तक ऊपर सञ्चरित होता है, जहां पहुंच कर योगी मूलाधार-चक्र से लेकर सारे चक्रों के घूमने का अनुभव करता है और अन्त में योगी

तालु-देश में स्थित चक्र से ऊपर भ्रूमध्य-स्थान में प्राणप्रवाह के प्रविष्ट होने का अनुभव करता है। उस दशा में योगी मूलाधारचक्र, नाभिचक्र, हृदयचक्र, कण्ठचक्र, *लाम्बिका चक्र और भ्रूमध्यस्थान में आज्ञाचक्र — इन सभी चक्रों के एक साथ घूमने का अनुभव करता है - जिस के अनन्तर इस योगीराज को अणिमा आदि महा-अष्टसिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है। इस के लिए ये श्लोक प्रमाण-रूप में लिखे जाते हैं—

वेधदीक्षा च बहुधा
तत्र तत्र निरूपिता।
सा चाभ्यासवता कार्या
येनोर्ध्वोर्ध्वप्रवेशतः॥
शिष्यस्य चक्रसंभेदप्रत्ययो
जायते ध्रुवम्।
येनाणिमादिका सिद्धिः॥

अर्थात् सभी त्रिकशास्त्र संबन्धी शास्त्रों में वेधदीक्षा❀ अनन्त प्रकार से वर्णन की गई है। वह वेध-दीक्षा की उपासना अभ्यास-शील महा योगी को करनी चाहिये। इस अभ्यास के फल-स्वरूप शिष्य को मूलाधार चक्र से लेकर ऊर्ध्व-प्रवेशरूप-क्रम से छै चक्रों के वेधन करने का अनुभव प्रतीत होता है, जिस के अनन्तर उसे महान् अष्टसिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है।

स्मरण रहे यह चक्रोदय का सूक्ष्मतम अभ्यास तभी इस प्रकार सफल होता है जब योगी बड़े प्रयत्न से दीर्घकाल तक आसन° पर बैठ कर निरन्तर बड़ी श्रद्धा से और बड़े चाव से अभ्यास करे। इस विषय में भगवान् पतञ्जलि कहते हैं—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्य-
सत्कारसेवितो दृढभूमिः।

अर्थात् वह अभ्यास दीर्घकाल तक धारावाहिक रूप से और अत्यन्त भक्ति और प्रेम से किया हुआ दृढभूमि बन जाता है।

---

* तालु में स्थित जो स्थान है उसी को लाम्बिका चक्र भी कहते हैं।

❀ वेधदीक्षा ६ प्रकार की है। आगे इन छै प्रकार की वेधदीक्षाओं पर प्रकाश डाल दिया जायेगा।

° आसन यहां पद्मासन ही समझना चाहिये।

इस के उलट जब साधक चक्रोदय की उपासना भक्ति तथा दीर्घकाल तक धारावाहिक रूप से नहीं कर पाता तो उसे प्राणों के मध्यधाम में प्रविष्ट होने के पश्चात् उसे षट्चक्रों का वेधन मूलाधारचक्र से ऊर्ध्वगति-रूपता से नहीं होता, बल्कि भ्रूमध्यचक्र से अधो-रूपता से अर्थात् नीचे नीचे ही षट्चक्रों के वेधन का अनुभव हो जाता है। इस के फल-स्वरूप साधक को अणिमादि अष्टसिद्धियों की प्राप्ति दूर ही रही, उसे तो ~~नीचे~~ ऊपर से नीचे की ओर षट्चक्रों का वेधन होने से पिशाच-आवेश ही प्राप्त होता है ~~जिसे~~ जिस से वह साधक अनन्त विघ्नों की परम्परा का शिकार बन जाता है। ईश्वर इस प्रकार के पिशाच-आवेश से सदा के लिए बचाये। इस प्रकार के आवेश से आवेश का न होना ही अच्छा है। इस विषय में कहा भी है —

ऊर्ध्वचक्रगतावस्था:
यदाधः संभवन्ति हि।
तदा पैशाच आवेशः
स वै विघ्नस्य कारणम् ॥

अर्थात् ऊर्ध्वचक्र में ठहरी हुई वेधनदशा जब साधक नीचे की ओर ही अनुभव करता है, तब वह साधक पिशाच-आवेश का भोगी बन कर धारावाहिक रूप से विघ्नों का भाजन बन जाता है। भाव यह है कि इस प्रकार के षट्चक्रवेधनात्मक पिशाच-आवेश से उसे तनिकमात्र भी लाभ नहीं होता।

इस प्रकार चक्रोदय उपासना का निर्णय ~~भी~~ समाप्त हुआ। इसी के साथ ~~प्रकार~~ आणवोपाय संबन्धी सभी उपाय-मण्डल का निर्णय भी विशद रूपता से समाप्त हुआ।

शाक्तोपायप्रकरण

शाक्तोपाय का लक्षण तन्त्रों में इस प्रकार बताया है —

उच्चाररहितं वस्तु
चेतसैव विचिन्तयन्।
यं समावेशमाप्नोति
शाक्तः सोऽत्राभिधीयते॥

अर्थात् प्राणोच्चार तथा ध्यान आदि उपायों का आश्रय लेने के विना केवल मन से ही ध्येय लक्ष्य वस्तु के अनुसंधान से जो स्वरूप-समावेश प्राप्त होता है उसे शाक्त-समावेश कहते हैं। इस शाक्त-समावेश के साथ संबन्धित — विकल्प-संस्कार, तर्क-तत्त्व, गुरु का वास्तविक तत्त्व, योग के आठ अंगों की अनुपयोगिता, काल्पित अर्चनादि की हेयता, संविच्चक्र का उदय, मन्त्रवीर्य का स्वरूप, वास्तविक जप आदि और विधिनिषेधरूपता का अभाव — ये नव प्रकार के शाक्तोपाय-प्रमेय-मण्डल वर्णन किये जायेंगे।

(१) विकल्पसंस्कार

विकल्प-संस्कार रूप साधना मन के द्वारा ही की जाती है। शुद्ध तथा अशुद्ध विकल्पप्रवाहों का स्वरूप ही मन कहलाता है। वास्तव में मन अनेक विकल्पप्रवाहों को जन्म देता है, और ये सारे विकल्प, क्षणक्षयी होने से टिकते नहीं हैं। उदाहरण के रूप में ऐसा कहा जाता है कि जब मन में कोई एक विकल्प उदय करता है, वह उदय होते ही दूसरे अपने सदृश विकल्प को जन्म देकर स्वयं नष्ट हो जाता है, और वह दूसरा विकल्प भी अपने सदृश तीसरे विकल्प को जन्माता हुआ स्वयं नष्ट होता है। वह भी अपने समान चौथे विकल्प को उत्पन्न करता हुआ स्वयं नष्ट होता है, वह भी पाञ्चवें, वह पाञ्चवां भी छटे विकल्प को जन्माता हुआ स्वयं नष्ट होता है — इसी प्रकार मन में अनन्त विकल्प-मालाओं का जन्म होता ही रहता है। यद्यपि इन विकल्पों में एक दूसरे विकल्प के साथ सदृशता बनी ही रहती है, तथापि ये विकल्प कुछ समय में कहीं से कहीं पहुंच जाते हैं। अब उदाहरण देकर इन विकल्पों

की गत्यात्मक अवस्था पर विशदरूपता से प्रकाश डाल दिया जाता है । मान लीजिये कि मन में यह विकल्प उठा कि यह पुस्तक है । उसी क्षण के अनन्तर 'पुस्तक है' यह विकल्प नष्ट होता है और वह इस दूसरे विकल्प को जन्माता है कि पुस्तक का रूप बहुत ही सुन्दर है । उस दूसरे विकल्प के नष्ट होने के पश्चात् तीसरा विकल्प इस प्रकार उठता है कि इस के कवर का रंग मेरी बानियान केन जैसा है । फिर वह विकल्प भी नष्ट होता है और उस के सदृश अन्यविकल्प का उदय होता है कि इस मेरी बनियान की ऊन मैं ने दिल्ली की किसी दुकान पर खरीदी थी । उस के पश्चात् यह अन्य विकल्प उठता है कि वास्तव में कैनाट प्लेस में ऊन की अच्छी अच्छी दुकानें हैं । फिर वह भी नष्ट होता है और इस के पश्चात् यह विकल्प प्रकट होता है कि दिहली में अनेक पिक्चर हाल हैं — इत्यादि रूपता से मन में विकल्प-मालाओं का उदय बना रहता है । अब पाठक यहां ज़रा ध्यान देवें कि 'यह पुस्तक है' इस पहिले विकल्प-स्थान से मनुष्य 'दिहली में अनेक पिक्चर हाल हैं'— इस एकदम भिन्न विकल्प पर पहुंच गया । स्मरण रहे कि इन मानसिक विकल्पप्रवाहों के द्वारा मनुष्य कहां से कहां तक पहुंच जाता है । इन्हीं विकल्पप्रवाहों पर शासन करने के लिये शाक्तोपाय-संबन्धी विकल्पसंस्कार-रूप पहिले प्रमेय का निर्णय किया जा रहा है— विकल्प-संस्कार-रूप उपासना में साधक को चाहिए कि वह अपने मन में ठहरे हुए विकल्प-प्रवाहों को एकदम तिलाञ्जलि देकर केवल इस एक स्वात्मपरामर्शरूप विकल्प को बड़ी ही सावधानी से एकाग्रता पूर्वक ठहराये कि "मैं ही शिव सारे विश्व में ठहरा हुआ हूं"— किन्तु उस साधक को सजग रहना चाहिए कि यह शिवपरामर्श-रूप विकल्प किसी भी प्रकार न्यून न होता रहे अपितु यह विकल्प "मैं ही शिव सारे विश्व में ठहरा हुआ हूं" ऐसी ही अत्यन्त सदृश, किसी अंश में भी न्यून न उदय करे । इस अपने मन में बड़े प्रयत्न से इसी प्रकार की शिवपरामर्श-रूप विकल्प-माला जन्म लेती रहे । फिर कुछ विशेष समय तक ऐसी ही शिवपरामर्श रूप विकल्प उदितोदित-अवस्था में प्रतिष्ठित रहनी चाहिए । यद्यपि आरम्भ में साधक को

इस शिवपरामर्शरूप विकल्प को धारावाहिक रूप से ठहराने में कुछ कठिनाई भी आजाये तथापि स्वात्मानुसंधान रूप बल का आश्रय लेकर उसे बार बार तथा प्रतिक्षण इस शिवपरामर्शात्मक विकल्प का नव-नव रूपता से ~~इस विकल्प~~ का संस्कार सजग होकर करता रहे, ~~कि~~ ताकि इस की विकल्पपरम्परा में किञ्चिन्मात्र भी न्यूनता न आजाये। यद्यपि साधक के मन में यह शिवपरामर्श रूप विकल्प अस्फुट सा प्रतीत होता है, तथापि इस विकल्प को स्फुट बनाने के लिए उसे यह संस्कार अनथकरूपता से (ही) करते ही रहना चाहिए। इसी प्रकार अत्यन्त परिवर्धित इस उपरोक्त शिवरूप विकल्प को बार बार उत्तेजित करने से यह शिवभावनात्मक अस्फुट विकल्प स्फुटरूपता को प्राप्त करता है। ऐसी दशा प्राप्त होने पर भी साधक को इस शिवभावना रूप विकल्प की श्रद्धा और भक्ति से ~~इस विकल्प~~ और भी अधिक मात्रा में बार बार संस्कार करके इस की स्फुटतर स्थिति प्राप्त करने के लिए और भी उत्तेजित करना चाहिये, जिस के फलस्वरूप योगी अनुसंधान की तीव्रता से अनायास यही ~~ही इस~~ शिवभावनात्मक विकल्प-संवित्ति अपनी स्वाभाविक स्फुटतम स्थिति को प्राप्त करता है, जिस के अनन्तर साधक (को) संपूर्ण रूप से चिदानन्दरूपता का साक्षात् अनुभव करके परा निर्विकल्पधाम की शिवावस्था में सदा के लिए लय हो जाता है — इस प्रकार से शाक्तोपायसंबन्धी समावेश-दशा प्राप्त करके शिव के साथ तन्मय बन जाता है। कहा भी है—

ततः स्फुटतमोदार-
ताद्रूप्यपरिबृंहिता।
संविदभ्येति विमला-
मविकल्पस्वरूपताम्॥

अर्थात् इस प्रकार धारावाहिक रूप से शिवभावनात्मक विकल्प अत्युच्च अनुसंधानमय संस्कारों के द्वारा स्फुटतम उपरोक्त शिवभावात्मक विकल्प-संवित्ति स्वयं ही निर्मल अविकल्परूपता के स्वरूप में लय हो जाती है, जिस से साधक शिवीभावात्मिका दशा का अनुभव यथार्थ रूपता से करता है।

इस ऊपरोक्त कथन के अनुसार पाठकों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इस पारमार्थिक शिवभावनात्मक विकल्प की चार अवस्थाएं हैं। पहिली अवस्था इस की अस्फुट है, दूसरी स्फुट, तीसरी स्फुटतर और चौथी स्फुटतम अवस्था है। इन चार पारमार्थिक विकल्पप्रणालियों में से पहिली तीन विकल्पप्रणालियां, अर्थात् अस्फुट, स्फुट और स्फुटतर विकल्प-प्रणालियां शुद्ध- पारमार्थिक विकल्पों की अवस्थायें हैं और चौथी विकल्पों की स्फुटतम अवस्था विकल्परूप न होकर निर्विकल्प शिवावस्था ही मानी गई है। अतः साधक को सावधानी से प्रथम-तीन प्रणालियों से आगे निर्विकल्प शिवधाम में समाविष्ट होने के लिये भरसक प्रयत्न करना चाहिये। कहा भी है —

परमार्थविकल्पेऽपि
नावलीयेत पण्डितः।
को हि भेदो विकल्पस्य
शुभे वाप्यथ वाशुभे ॥

~~ज्ञानी साधक को~~ अर्थात् सांसारिक विकल्पों को रहने दीजिये, पारमार्थिक शुद्ध विकल्पों में भी प्रवीण साधक को विश्राम नहीं करना चाहिये; क्योंकि शुभविकल्पों और अशुभविकल्पों में कोई भेद नहीं है। विकल्प शुद्ध हों अथवा अशुद्ध हों विकल्प तो सभी मायामय ही हैं। इत्यतः विकल्प-संस्कार रूप उपाय पर चलने वाले साधक को स्वात्मसंवित्ति की स्फुटतम निर्विकल्प अवस्था प्राप्त करने तक सर्वभाव से प्रयत्नशील रहना चाहिये। कहा भी है -

अतश्च भैरवीयं यत्
तेजः संवित्स्वभावकम्।
भूयो भूयो विमृशतां
जायते तत्स्फुटात्मता ॥

अर्थात् भैरव-स्वरूप निर्विकल्प शिवभाव का जो बार बार विमर्श करते हैं, उन्हें उस भैरवरूपता की निर्विकल्प स्फुटतम अवस्था प्राप्त होती है।

यहां यह कहना भी अप्रासंगीक न होगा कि विकल्प❀-संस्कार की साधना में निष्णात योगी अनायास ही विश्वव्यापी मध्यदशा से परिचित होता है, अतः ऐसा योगी सभी व्यावहारिक दशाओं में इसी शिवभावात्मक मध्य-पद में प्रवेश करता है। मैं इस विषय को एक दो उदाहरण देकर स्पष्ट करता हूं। किन्हीं दो चेष्टाओं में, किन्हीं दो अवस्थाओं में और किन्हीं दो पदार्थों में मध्य-पद सर्वथा अवस्थित है। अर्थात् जब मनुष्य एक संकल्प करके दूसरा संकल्प करता है, जब मनुष्य जाग्रदवस्था से स्वप्नावस्था में चला जाता है अथवा जब मनुष्य एक वस्तु को देख कर दूसरे वस्तु को देखने लगता है – उन दो संकल्पों के मध्य में, उन दो अवस्थाओं के बीच में और उन दो पदार्थों के ज्ञान की अन्तराल दशा में मध्य-धाम ठहरा हुआ ही है, पर अज्ञानी-जन इस अन्तरालवर्ती मध्य-धाम रूप अवस्था से सर्वथा अनभिज्ञ ही रहते हैं, किन्तु विकल्प-संस्कार रूप शाक्तोपाय साधना में तत्पर साधक सदैव प्रत्येक व्यावहारिक दशाओं में इस मध्य-धाम का साक्षात्कार करता ही रहता है – जिस के फलस्वरूप उसकी मध्य-धाम में स्थिति बनी ही रहती है। इस ऊपरोक्त मध्य-धाम का उल्लेख करने वाले निम्नलिखित कई प्रमाण श्लोक हैं –

यद्भावानुभवः स्यान्निद्रादौ जागरस्यान्ते।
अन्तः स चेत् स्थिरः स्याल्लभते तदद्वयानन्दम् ॥

अर्थात् जो अवस्था निद्रावस्था के आदि में और जाग्रदवस्था के अन्त में ठहरी रहती है, यदि किसी साधक को उस मध्यवर्ती अवस्था का ज्ञान हो जाये तो वह उस शिवात्मभाव रूप परमानन्द-दशा को प्राप्त करता है।

भावे त्यक्ते निरुद्धा चेन्नैव भावान्तरं व्रजेत्।
तदा तन्मध्यभावेन विकसत्यतिभावना ॥

अर्थात् एक पदार्थज्ञान को छोड़ कर अपने मन को दूसरे पदार्थ-ज्ञान में जाने न देना चाहिए। इस प्रकार दो पदार्थ-ज्ञानों के बीच में ठहरा हुआ साधक शिव-स्वरूप में समावेश करता है।

❀ पाठकों को इस बात का भी निश्चय करना चाहिये कि यद्यपि शाक्तोपाय-साधना प्रधानरूपता से मन के द्वारा ही की जाती है, तथापि इस मन के साथ बुद्धि और अहंकार भी संबन्धित समझना चाहिये। कहा भी है –

शाक्तोऽथ भण्यते
चेतो धीमनोहंकृतिः स्फुरम्।

अर्थात् शाक्तोपाय की साधना मन, बुद्धि और अहंकृति – इन तीन के द्वारा होती है।

इस मध्यदशा से संबन्धित एक और श्लोक प्रमाण है—

प्रकाशावस्थितं ज्ञानं
भावाभावादिमध्यतः।
स्वस्थाने वर्तनं ज्ञेयं
दृष्टत्वं विगतावृति॥
विविक्तवस्तु कथितः
शुद्धविज्ञाननिर्मलः।
ग्रामधर्मवृतिरुक्त-
स्तस्य सर्वं प्रसिद्ध्यति॥

अर्थात् किसी पदार्थ की सत्ता और असत्ता के अन्तराल देश में प्रकाशरूप शिवज्ञान ठहरा हुआ है। उस अन्तरालवर्ती ज्ञान को दो पदार्थों के मध्य में नहीं देखना चाहिये, अपितु उस अन्तरालवर्ती स्वरूप को अपनी ज्ञातृदशा में ही अनुसंधान करना चाहिए। इस प्रकार से अन्तराल-दशा का निरन्तर अनुसंधान करने वाला साधक शुद्ध परमाशिवज्ञान में समाविष्ट ग्रामधर्मवृति* से संपन्न बना रहता है। ऐसी दशा में उसे सर्वोत्कृष्ट मोक्षदशा की सिद्धि प्राप्त होती है।

इस प्रकार शाक्तोपाय संबन्धी विकल्पसंस्कार रूप उपाय का वर्णन विशद रूप से समाप्त हुआ। अब इस के साथ संबन्धित सत्तर्क-स्वरूप - इस दूसरे शाक्तोपाय संबन्धी दूसरे प्रमेय का निर्णय आरम्भ हो जायेगा।

(2) तर्क का वास्तविक स्वरूप

त्रिकशास्त्रों के आधार पर तर्क, योग के अंगों में सर्वोत्कृष्ट अंग माना गया है। यद्यपि योगदर्शन की दृष्टि से योग के अंग -

यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-
धारणा-ध्यान-समाधयः

इस सूत्र की दृष्टि से आठ हैं, तथापि त्रिकशास्त्र के दृष्टिकोण से योग के अंग केवल छै ही माने गये हैं।

---

* ग्रामधर्मवृति का अर्थ यूं किया जाता है। घटपटादि पदार्थों को ग्राम कहते हैं। उनका जो मध्य-धाम रूप जीवन है, उसे ग्रामधर्म कहते हैं। उस दशा में जो सदैव ठहरता है, उसे ग्रामधर्मवृति योगी कहते हैं।

कहा भी है —

प्राणायामस्तथा ध्यानं
प्रत्याहारोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च
षडङ्गो योग उच्यते॥

अर्थात् प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा, तर्क और समाधि— इस प्रकार त्रिकशास्त्र में योग छै ही अंगों वाला कहा जाता है। कारण यह है कि यम, नियम और आसन योग के वास्तविक अंग नहीं हैं, अपितु योग-मार्ग में प्रवेश करने की योग्यता प्राप्त करने के लिए योग-दर्शन में कहे गये हैं। ~~और~~ प्राणायाम से लेकर समाधि तक ये पांच साक्षात् योग के अंग हैं। इसी लिए त्रिकशास्त्र-निष्णात् आचार्यों ने प्राणायाम से लेकर समाधि तक इन्हीं को योगांग-नाम से विभूषित किया हैं। अब योग-दर्शन के योगांगों में और शैव-दर्शन के योग-अंगों में इतना अन्तर है कि शैव-दर्शन के योगांगों में तर्क नाम वाला अधिक योगांग है। यही तर्क नाम वाला अंग योगांगों में अत्युत्तम अंग माना गया है। कहा भी है —

अहोऽन्तरङ्गं योगस्य
तेन चाध्वन्यवास्थितेः।
साधारणोऽप्यसौ मुक्ते-
र्भूयसोपकरोति हि॥

अर्थात् तर्क योग का यदि साधारण अंग भी है, तथापि यह ~~तब~~ तर्क योग का सर्वोपरि अन्तरङ्ग अंग है- इत्यतः यह तर्क मुक्ति-प्राप्ति में अधिक-मात्र में उपकार करता है। इस श्लोक के अतिरिक्त यह दूसरा श्लोक भी इसी तर्क की महिमा का सूचक है -

श्रीपूर्वशास्त्रे तत्प्रोक्तं
तर्को योगाङ्गमुत्तमम्।
हेयाद्यालोचनात्तस्मा-
त्तत्र यत्नः प्रशस्यते॥

अर्थात् मालिनीविजयोत्तर-तन्त्र में भी कहा है कि तर्क ही योग का उत्तम अंग है। यतः तर्क से ही साधक समझ सकता है कि हेय क्या है और उपादेय क्या है, तर्क के बल से ही साधक अपने अभ्यास-मार्ग में त्रुटियों को समझ पाता है और तर्क से ही वह अपनी उपासना की प्रणाली को यथार्थ रूपता से ही जान लेता है। अतः तर्क का आश्रय लेने वाला साधक ही यथार्थ रूपता से स्वात्मा-नुसन्धान करने में समर्थ बन जाता है। इस कारण सर्व-प्रयत्न से साधक को तर्क-बुद्धि प्राप्त करने में प्रयत्नशील बनना चाहिये। अब इस तर्क के विषय में पाठकों को यह समझना भी अत्यन्त आवश्यक है कि दो प्रकार का तर्क, शास्त्रों में वर्णन किया गया है। एक वह है जो वाद-जल्प-वितण्ड इत्यादि में लगा हुआ पारमार्थिक वस्तु का पर्यालोचन करने से विमुख, (क) छल-कपट से युक्त तथा दूसरे को पराजित करने में लगा हुआ केवल वाद विवाद करने में लगा हुआ पारमार्थिक आनन्द-रस से रहित शुष्क-प्राय होता है। इस तर्क को कुतर्क ही कहते हैं। इस तर्क से साधक का कोई भी उद्धार नहीं होता, बल्कि इस से तो उसे पतन ही होता है। परन्तु दूसरा तर्क वह है जो हेयवस्तु तथा उपादेय वस्तु का विवेक कराता है। राग से वैराग्य की ओर प्रेरित करता है। छल कपट इत्यादि कुवासनाओं से रहित होकर परमाशिव का अनुसन्धान करने में सहायता देता है और साधक को परमार्थ-मार्ग का क्रम समझाता है। इस प्रकार के तर्क को सत्तर्क कहते हैं और यही सत्तर्क योग का उत्तमोत्तम अंग माना गया है। ऐसा सत्तर्क ही साधक को कुमार्ग से निकाल कर सत्पथ की ओर प्रेरित करता है। इस पर कहा भी है—

मार्गे चेतः स्थिरीभूतं
हेयेऽपि विषयेच्छया।
प्रेर्यं तेन नयेत्ताव-
द्यावत्पदमनामयम्॥

अर्थात् यद्यपि साधक का मन मितासिद्धियों के देने वाले मार्ग में लगा हुआ भी हो, तथापि साधक को अपना मन इन योग की मित-सिद्धियों से हटाकर सत्तर्क द्वारा ही परमाशिवभाव

में ही लगाना चाहिये। इसी सत्तर्क के द्वारा ज्ञानी-जन भेद-प्रथारूपी संसार का सुदृढ़ मूल काटने में समर्थ होते हैं। इस विषय में कहा भी है—

> दुर्भेदपादपस्यास्य
> मूलं कृन्तान्ति कोविदाः।
> धारारूढेन सत्तर्क-
> कुठारेणेति निश्चयः॥

अर्थात् शैव-शास्त्रों की यही धारणा है कि सजग योगी-जन अत्यन्त निशित सत्तर्क रूपी कुठार की धारा से इस मायामय उत्कट संसार रूपी वृक्ष का सुदृढ़ मूल काट डालते हैं और अन्त में शिवात्मभाव रूप अवस्था को सदा के लिए प्राप्त करते हैं। यहां यह कहना अत्युक्ति न होगी कि सत्तर्क वास्तव में शुद्ध-विद्या ही का स्वरूप है और यही सत्तर्कात्मक स्थिति समस्त कामनाओं को प्रसारित करने वाली पराकाष्ठा है। इस प्रकार शाक्तोपायान्तर्गत इस सर्वोत्कृष्ट सत्तर्क रूप प्रमेय का निर्णय समाप्त हुआ। इस सत्तर्क की महानता इतनी है कि इसी सत्तर्क के द्वारा मनुष्य सद्गुरु के चरणों में पहुंच जाता है। इत्थंतः इस सत्तर्क के साथ संबन्धित गुरुसत्तत्वनाम वाला तीसरा शाक्तो-पाय संबन्धित प्रमेय वर्णन किया जा रहा है—

③ सद्गुरु का स्वरूप

हमारे शैव-शास्त्रों में सद्गुरु-जनों का स्वरूप अनेक प्रकार से वर्णन मिलता है। पहिली कोटि का सद्गुरु सांसिद्धिक-गुरु कहलाता है। दूसरी कोटि का सद्गुरु अकल्पितकल्पक नाम से कहा जाता है। तीसरी कोटि का सद्गुरु कल्पित नाम से वर्णन किया गया है और चौथी कोटि का सद्गुरु कल्पिताकल्पित नाम से अलंकृत किया गया है। यहां यह बात समझाने में हमें आवश्यकता प्रतीत होती है कि ये चारों प्रकार के सद्गुरु शिष्यों को ज्ञान प्रदान करने में समानता से ही सामर्थ्य रखते हैं—इत्थंतः इन चारों प्रकार के सद्गुरु-जनों को शिवरूप ही समझना चाहिये। अब इन चारों प्रकार के सद्गुरु-जनों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जायेगा।

सांसिद्धिकगुरु के लक्षण

जिस भाग्यशाली व्यक्ति को गुरु और शास्त्रों की अपेक्षा के विना आप ही आप परमेश्वर के अनर्गल शक्तिपात से शुद्धविद्यात्मक सत्तर्करूप स्वात्मपरामर्श का उदय होता है उसे शैवशास्त्रों में सांसिद्धिक-गुरु के नाम से अलंकृत किया है ; क्योंकि वह गुरु तथा शास्त्रों का आश्रय लेने के विना परमेश्वर की अप्रतिहता इच्छा से ही स्वरूपलाभात्मक दशा को प्राप्त करता है। कहा भी है—

गुरुशास्त्रानपेक्षं च
यस्यैतत्स्वयमुद्भवेत्।
स सांसिद्धिक इत्युक्त-
स्तत्त्वनिष्ठो महामुनिः॥

अर्थात् गुरु-शास्त्र की अपेक्षा के विना जिस व्यक्ति को उपरोक्त सत्तर्कात्मक स्थिति का प्रादुर्भाव होता है, वह योगी, तत्त्वनिष्ठ सांसिद्धिक-गुरु कहलाता है। अब यहां यह शङ्का होती है कि यह सांसिद्धिक गुरु शास्त्र*-प्रक्रिया में अनभिज्ञ होने के कारण अपने शिष्यों को कैसे दीक्षा प्रदान करता है, यतः शास्त्रों के आश्रित ही दीक्षा सिद्धिप्रद बन जाती है। इस शङ्का का समाधान शास्त्र ही इस प्रकार करता है—

स समस्तं च शास्त्रार्थं
सत्तर्कादेव मन्यते।
शुद्धविद्या हि तन्नास्ति
सत्यं यद्यन्न भासयेत्॥

अर्थात् वह सांसिद्धिक-गुरु सारे शास्त्रों का तात्पर्य सत्तर्क की प्राप्ति से ही जान लेता है, यतः सत्तर्करूप शुद्धविद्या इस सांसिद्धिक गुरु को सब कुछ प्रकट करती है, अतः ऐसे गुरुदेव को, शिष्यों को ज्ञान-प्रदान करने में तनिक-मात्र भी बाधा नहीं आती है।

---

* शास्त्रों में यह कहा भी है—

शास्त्रहीने न सिद्धिः स्या-
द्दीक्षायां वीरवन्दिते॥

अर्थात् हे पार्वती! शास्त्र में अनभिज्ञ गुरु को दीक्षा में कोई भी सिद्धि नहीं होती।

इत्यर्थतः ~~सिद्ध हुआ कि~~ गुरु तथा शास्त्रों का आश्राय लेने के विना इस सांसिद्धिक गुरु को सत्तर्कात्म शुद्धविद्या के प्रभाव से ही समस्त शास्त्रों का बोध हो जाता है। इस विषय में कहा भी है—

शुद्धविद्या हि तन्नास्ति
सत्यं यद्यन्न भासयेत्।
सर्वशास्त्रार्थवेत्तृत्व-
मकस्माच्चास्य जायते ॥

वह संसार में कोई वस्तु नहीं है जिसे शुद्धविद्या प्रकट नहीं करती है। इस कारण इस सांसिद्धिक गुरु को समस्त शास्त्रों का बोध अकस्मात् ही प्राप्त होता है। यहां पाठक-जन यह बात भी समझ लें कि सांसिद्धिक गुरु को अकल्पित-गुरु भी कहते हैं, क्योंकि इस की यह स्वरूप-प्रथन-दशा गुरु तथा शास्त्रों के अन्वेषण के विना स्वतः ही प्राप्त होती है। इस के अतिरिक्त इस सांसिद्धिक गुरु को प्रातिभ-गुरु भी कहते हैं; क्योंकि इसे अपनी निर्मल प्रतिभा से ही ऐसा ज्ञान प्राप्त हुआ होता है। यहां दूसरी बात भी ध्यान देने योग्य है कि जो तीन प्रकार के अकल्पितकल्पक, कल्पित तथा कल्पिताकल्पित गुरु निर्णय किये जायेंगे, उन सभी प्रकार के गुरु-जनों को इस सांसिद्धिक गुरु के सामने शिष्यों को दीक्षा प्रदान करने का कोई भी अधिकार नहीं। यदि उन्हें अपने शिष्यों को उपदेश करना हो तो और किसी समय और और किसी स्थान में उपदेश करना चाहिये, परन्तु इस सांसिद्धिक-गुरु के सामने कदापि शिष्यों को उपदेश नहीं देना चाहिये। इस विषय में कहा भी है।

स एव सर्वाचार्याणां
मध्ये मुख्यः प्रकीर्तितः।
तत्संनिधाने नान्येषु
कल्पितेष्वधिकारिता ॥

अर्थात् वही सांसिद्धिक प्रातिभगुरु समस्त कल्पित इत्यादि आचार्यों में प्रधान माना हुआ है। इत्यर्थतः उस आचार्य के सामने किसी अन्य आचार्य को शिष्यों में ज्ञान देने का अधिकार नहीं है।

इस प्रकार सांसिद्धिक गुरु शिव समान ही माना गया। उसे शास्त्र-अवलोकन के बिना ही समस्त शास्त्रों का ज्ञान स्वयं करामलकवत् प्रकट होता है। यही सांसिद्धिक-गुरु की महानता है।

② अकाल्पितकल्पक गुरु

अकाल्पितकल्पक गुरु का लक्षण शास्त्रों में इस प्रकार कहा है—

यस्तु तद्रूपभागात्म-
भावनातः परं विना।
शास्त्रवित्स गुरुः शास्त्रे
प्रोक्तोऽकाल्पितकल्पकः॥

अर्थात् जो सांसिद्धिक गुरु होते हुए भी पूर्व-वर्णित बौद्ध ज्ञान रूप शास्त्रों की पराकाष्ठा प्राप्त करके भी उस अवस्था पर यथार्थरूपता प्रतिष्ठित नहीं होता, अर्थात्

अहमेव परो हंसः
शिवः परमकारणम्।

इस बौद्ध-ज्ञान रूप शास्त्रों की यथार्थ स्थिति प्राप्त नहीं कर सकता, फिर वह उस बौद्ध-ज्ञान की यथार्थ-स्थिति प्राप्त करने के लिए गुरु के आश्रय के बिना अपने ही चिद्बल का परामर्श अनुसंधानपूर्वक करके अपने शास्त्र-ज्ञान को सुदृढ बनाता है — ऐसा गुरु शास्त्रों में अकाल्पितकल्पक नाम से अलंकृत किया है। अर्थात् सांसिद्धिकरूपता को सुदृढ बनाने के लिए अपनी प्रतिभा के बल से अनुसंधान करके अपनी स्वरूप-सत्ता पूर्णतया चमकाता है। भाव यह है कि ऐसे साधक को अपने ज्ञान की पूर्ति गुरु-शास्त्रों की अपेक्षा बिना स्वयं ही ध्यान में, जप में, धारणा में, स्वप्नावस्था में तथा योग-साधना में आप ही आप सिद्ध-योगिनी-मेलाप के द्वारा स्वात्म-ज्ञान पूर्णतया सिद्ध होता है, अतः इसे इस दशा को प्राप्त करने में गुरु तथा शास्त्रों का आश्रय लेने का कोई भी प्रयोजन नहीं रहता।

यद्यपि सांसिद्धिकगुरु और अकाल्पितकल्पक गुरु-जनों में समानरूपता से ही स्वरूपनिष्ठता बनी रहती है, तथापि इन दो प्रकार के गुरु-जनों में यह अन्तर है कि सांसिद्धिक-गुरु पूर्णरूपता से स्वरूप-निष्ठ होता है - अतः अपनी इस स्वरूपस्थिति को परिपुष्ट करने के लिए स्वात्मपरामर्श का बल अवलम्बित करने की आवश्यकता नहीं रहती, इत्यतः उसकी यह स्वात्मस्थिति स्वभाव ही बन जाती है, किन्तु अकाल्पितगुरु की स्वरूपनिष्ठता में न्यूनता के आभास की कुछ संभावना रहती है जिससे उसे स्वात्मपरामर्श का आश्रय प्रयत्नपूर्वक लेना पड़ता है, जिसके फल-स्वरूप उस की स्वरूपस्थिति स्वाभाविक बन जाती है। पाठकों को यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि अन्त में सांसिद्धिकगुरु और अकाल्पितकल्पकगुरु में तनिक-मात्र विशेष भी भेद नहीं रहता और शिवरूपता की स्थिति इन दोनों में समानरूपता से ही चमकती है।

(३) काल्पितगुरुः

जिस साधक को सत्तर्क रूप शुद्धविद्या का उदय शास्त्र-प्रक्रिया के समझने के बिना नहीं होता तो उसे सद्गुरु के पास जाकर उनके आदेश के अनुसार चलना चाहिये, तत्पश्चात् उन को सेवा तथा श्रद्धा से प्रसन्न करके शास्त्रों की प्रक्रिया का यथार्थ बोध प्राप्त करना चाहिए। अतः गुरु की आराधना से तथा उन की सेवा से उन से दीक्षा प्राप्त करके शास्त्रों का पारमार्थिक तत्त्व समझ कर गुरु-सेवा में तत्पर रहकर स्वात्मस्थिति को प्राप्त करने के लिये अनुसंधान परायण रहना चाहिए। इस के फलस्वरूप उस साधक को गुरुकृपा से तथा शास्त्रों के बोध से सत्तर्क-रूप शुद्धविद्या का पूर्ण-रूप से उदय होता है। ऐसा साधक संपूर्णरूप से स्वरूप-संवित्ति में निष्ठ होकर काल्पित गुरु कहलाया जाता है। ऐसा व्यक्ति काल्पित गुरु होकर भी अपने शिष्यों को ज्ञान-प्रदान करने में सर्वथा समर्थ होता है, और सांसिद्धिक अकाल्पित गुरु के समान ही अपने शिष्यों के अज्ञानात्मक अन्धकार को नष्ट करने में समर्थ होता है। इस विषय में कहा भी है—

येन केनाप्युपायेन गुरुमाराध्य भक्तितः।
तद्दीक्षाक्रमयोगेन शास्त्रार्थं वेत्त्यसौ ततः॥
अभिषेकं समासाद्य यो भवेत्स तु कल्पितः।
सन्नप्यशेषपाशौघविनिवर्तनकोविदः॥

अर्थात् अनेक उपायों का आश्रय लेकर पहिले गुरु की आराधना करनी चाहिए। भाव यह है जिस प्रकार गुरु प्रसन्न हो जाए उसी प्रकार यत्न करना चाहिए। कोई गुरु केवल सेवा से प्रसन्न होता है, कोई धन से प्रसन्न होता है और कोई गुरु प्रतिविद्या के द्वारा प्रसन्न होता है। मतलब यह है कि जिस किसी उपाय से गुरु प्रसन्न हो जाये वैसा ही शिष्य को करना अत्यावश्यक है। उस के पश्चात् प्रसन्नचित्त गुरु उसे दीक्षा का अभिषेक करता है जिस के फल-स्वरूप शिष्य को सत्तर्क-रूप शुद्ध विद्या का उदय होता है और वह शिवभाव में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित बनो रहता हुआ अपने गुरु के समान अवस्था को प्राप्त करता है। ऐसा गुरु काल्पित-गुरु के नाम से शास्त्रों में कहा गया है। परन्तु काल्पित-गुरु होकर भी यह अपने शिष्यों के अज्ञानात्मक अन्धकार को दूर करने में समर्थ होता है।

इस प्रकार अकाल्पित गुरु, अकाल्पितकल्पक गुरु और काल्पित गुरु का निर्णय समाप्त हुआ। अब अवशिष्ट काल्पिताकाल्पित गुरु का निर्णय आरम्भ कर लिया जाता है–

(४) काल्पिताकाल्पित गुरु

जो व्यक्ति, गुरुदेव के पास जाकर उसे प्रसन्न बनाने के पश्चात् उस की कृपा से दीक्षा प्राप्त करके स्वरूपलाभ प्राप्त करता है उसे तो काल्पित-गुरु कहा जाता है। ऐसा ही काल्पित गुरु जब ईश्वर के शक्तिपात से किसी अत्यन्त आवश्यक पारमार्थिक अंश को स्वतः अपने परामर्श की तीव्रता से समझ लेता है, उस अंश में ऐसा गुरु काल्पित होते हुए भी अकाल्पित ही मान लिया जाता है– क्योंकि उस अंश को समझने में उसे गुरु के पास जाने की आवश्यकता नहीं रही। स्वतः ही अपनी प्रतिभा के प्रभाव से ही उस ने वह शास्त्रों का सूक्ष्मतम-मर्म जान लिया- इत्यतः उस में वह गुरु

अकाल्पित-गुरु-पदवी में ही ठहरा हुआ है । अतः उस गुरु का नाम काल्पिताकाल्पित-गुरु शास्त्रों ने रखा हुआ है । किन्तु स्मरण रहे कि जो उस गुरु-देव के ज्ञान का अकाल्पित भाग है, वह श्रेष्ठतम-भाग कहा जाता है । कहा भी है —

तस्य योऽकाल्पितो भागः
स तु श्रेष्ठतमः स्मृतः ।

अर्थात् उस काल्पित गुरु-देव के ज्ञान का जो अकाल्पित भाग है - वह अत्यन्त श्रेष्ठ भाग उसे प्राप्त हुआ है । इस प्रकार काल्पित-गुरु-पदवी में ठहरा हुआ व्यक्ति, ईश्वरीय शक्तिपात से कदाचित अलौकिक शास्त्रों के अत्यावश्यक मर्म को गुरु-इत्यादि की अपेक्षा के बिना ही जान लेता है, अर्थात् अकस्मात् ही उस के भीतर ऐसे ज्ञान का प्रकाश होता है जिस से काल्पित रूपता में भी उस की अकाल्पित रूपता की प्रतिभा चमकती है । ऐसा ही गुरु काल्पिताकाल्पित-गुरु के नाम से शास्त्रों में कहा जाता है - कहा भी है —

यो यथाक्रमयोगेन
कास्मिंश्चिच्छास्त्रवस्तुनि ।
आकस्मिकं व्रजेद्बोधं
काल्पिताकाल्पितो हि सः ॥

अर्थात् स्वात्मपरामर्श की अधिकता के फल स्वरूप जो कोई काल्पित-गुरुपदवी में ठहरा हुआ व्यक्ति अकस्मात् ही किसी शास्त्र के वास्तविक मर्म को समझ पाता है - वह गुरु हमारे शास्त्रों में काल्पिताकाल्पित-गुरु के नाम से अलंकृत किया गया है । इस प्रकार चार प्रकार वाले गुरु-देवों का निर्णय समाप्त हुआ । ये सभी प्रकार के गुरु-देव शिव रूप ही समझने चाहियें, बल्कि शिव के ही चार प्रकार के अवतार इस संसार-मण्डल में अवतरित हुए हैं, जो इस संसार में अज्ञान-ग्रस्त जीवों का उद्धार करने में सर्वथा समर्थ हैं । कहा भी है —

यस्मान्महेश्वरः साक्षा-
त्कृत्वा मानुषविग्रहम् ।
कृपया गुरुरूपेण
मग्नाः प्रोद्धरति प्रजाः ॥

अर्थात् साक्षात् शिव ही इस संसार में मनुष्यशरीर धारण करके गुरु-रूप होकर अज्ञान-ग्रस्त जीवों का उद्धार करने के लिए अवतारित होते हैं। अब इन उपरोक्त चार प्रकार के गुरुदेवों में से जो पहिला,उत्कृष्ट सांसिद्धिक-गुरु कहा गया है, उस के विषय में यह शंका उत्पन्न होती है कि यदि वह अकल्पित गुरु-पदवी प्राप्त करके भी दूसरे अपने समान गुरु-देव से दीक्षा प्राप्त करके अपने प्रातिभ-ज्ञान को और भी परिवर्धित करदेवे तो फिर क्या वैसा करना उस के लिये दूषण है कि भूषण है? इस का समाधान यह श्लोक करता है —

यस्त्वकाल्पितरूपोऽपि
संवाददृढताकृते ।
अन्यतो लब्धसंस्कारः
स साक्षाद्भैरवो गुरुः ॥

यतः शास्त्रक्रमात्तज्ज्ञ-
गुरुप्रज्ञानुशीलनात् ।
आत्मप्रत्ययितं ज्ञानं
पूर्णत्वाद्भैरवायते ॥

अर्थात् अकाल्पित-गुरुपदवी में प्रतिष्ठित होकर भी जो कोई अपने प्रातिभज्ञान को सुदृढ बनाने के लिए दूसरे अपने समान गुरु से दीक्षित होकर अपने सुव्यवस्थित ज्ञान को औरभी पूर्ण बना देता है वह गुरु साक्षात् भैरव-रूप ही समझना चाहिए, क्योंकि उस भैरवरूप गुरुदेव का प्रातिभ-ज्ञान शास्त्रों का अवलोकन करने से, गुरु के मुख-संप्रदाय से तथा अपने अनुभव से पूर्णरूप से सुदृढ हो जाता है, फलतः उस का इस प्रकार से तीनों प्रत्ययों से (गुरु, शास्त्र और अनुभव) प्रपूरित बना हुआ ज्ञान उसे सदा के लिए भैरवीभाव से अलंकृत बना देता है। अतः सिद्ध हुआ कि प्रातिभगुरु के लिए गुरु, शास्त्र और अनुभव – इन तीनों का आश्रय लेना भूषण ही है और दूषण नहीं है।

इस प्रकार यहां शाक्तोपाय के साथ संबन्धित गुरु-सतत्त्व-नामक तीसरे प्रमेय का निर्णय भी समाप्त हुआ।

अब प्राप्तावसर शाक्तोपाय- साधना से संबन्धित योगाङ्गों की अनुपयोग्यता- नामक चौथे प्रमेय के निर्णय करने से पूर्व आठ योग के अंगों पर कुछ प्रकाश डाल दिया जाता है। योगशास्त्र के प्रवर्तक भगवान् पतञ्जलि ने योग के आठ अंगों को इस प्रकार कहा है—

यमनियम- आसन- प्राणायाम- प्रत्याहार-
धारणा- ध्यान- समाधयोऽष्टौ योगांगानि।

अब इन आठ अंगों के लक्षण क्रम से किये जा रहे हैं—
पहिला योग का अंग यम है, जो पांच प्रकार का है। अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। दूसरा योग का अंग नियम भी पांच प्रकार का है अर्थात् शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान। तीसरा अंग आसन भी यदि अनेक प्रकारों से योग-शास्त्रों में वर्णन किये गये हैं तथापि योगाभ्यास के उपयोगी चार ही आसन प्रधान माने गये हैं, जो क्रम से स्वास्तिक- आसन, भद्रासन, पद्मासन और सिद्धासन हैं। चौथा अंग प्राणायाम अर्थात् प्राणों का रेचक, पूरक और कुम्भक रूप से प्रसिद्ध है। पांचवां अंग योग का प्रत्याहार कहा गया है। प्रत्याहार का लक्षण है

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार-
इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

अर्थात् अपने अपने विषयों से अलग रख कर अपने मन में ही इन्द्रियों को स्थापित करना प्रत्याहार कहलाता है। छटा अंग धारणा है, जिस का लक्षण है—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा

अर्थात् मन को इन्द्रियों सहित किसी भ्रूमध्य आदि देश में धारावाहिक रूप से ठहराना। सातवां योग का अंग है ध्यान। जिस का लक्षण है—

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्

अर्थात् जहां सजातीय- प्रत्ययों का प्रवाह बना रहे और विजातीय- प्रत्ययों का तिरस्कार होता जाये। जैसे निवातस्थ दीप-शिखा की ज्योति निश्चल बनी रहती है। और आठवां योग का अंग है समाधि जिस के लक्षण यूं कहे हैं—

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।

जब ध्यान करते हुए साधक अपने ध्यातृ-भाव को त्यागता है और उस की चित्तवृत्ति ध्येयाकार हो जाती है, वही स्थिति समाधि कही जाती है।

जैसे माता के गर्भ में शिशु के सारे अंग एक साथ ही बढ़ते हैं उसी प्रकार शास्त्रों का आदेश है कि आणवोपाय-क्रम के आश्रित साधक इन उपरोक्त योग के आठ अंगों को एक साथ ही बढ़ाता रहे तभी तो उसे योगाभ्यास की साधना में सफलता प्राप्त हो सकती है। पर यह आदेश शाक्तोपाय-पथ पर चलने वाले साधक के लिए लागू नहीं हो सकता है। क्योंकि शाक्तोपाय-साधना में प्रवीण साधक योगाभ्यास-साधना की सीमा को उल्लंघन किए हुए ठहरा हुआ होता है, अतः उस प्रवीण साधक के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि सभी आठों अंग उपयोगी नहीं हैं, क्योंकि वह शाक्तोपाय पर चलने वाला भव्य-साधक पर-संवित्ति पर ही ठहरा हुआ, उसी में प्रतिष्ठित रहने के लिए अनुसन्धान-तत्पर बना हुआ सत्तर्कात्मक परामर्श में ही तन्मय बन जाता है अतः उस के लिए ये यम नियम आदि साधनायें सभी बेकार हैं। इस विषय में कहा भी है कि ऐसे शाक्तोपाय-साधक के लिये सभी योगांगों की अनुपयोग्यता ही है। कहा भी है—

> अहिंसा सत्यमस्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः।
> इति पञ्च यमाः साक्षात्संवित्तौ नोपयोगिनः॥
> तपः प्रभृतयो ये च नियमा यत्तथासनम्।
> प्राणायामाश्च ये सर्वमेतद्बाह्यविजृम्भितम्॥

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह — ये पांच प्रकार के यम संविद्धाम-प्राप्ति के साक्षात् साधन नहीं हैं, किंतु आणवोपाय-साधक के लिये उपयोगी हैं, जो उसको परम्परा से संविद्धाम प्राप्त करने के योग्य बनाते हैं। इसी प्रकार तपस्या इत्यादि पांच नियमों की साधनाएं, इसी प्रकार आसन तथा प्राणायाम आदि क्रियायें भी बाह्य-साधनायें ही हैं। अर्थात् — इन सभी साधनाओं को परम-धाम-प्राप्ति के लिए कोई भी उपयोग नहीं है। इस का कारण यही है कि ये सभी योग के बहिरंग ही हैं और अन्तरंग नहीं हैं। इत्यतः शाक्तोपाय-साधना के लिए यदि कोई योग का अंग है वह तो केवल तर्क ही है और अन्य कोई भी अंग नहीं। कहा भी है—

> एवं योगाङ्गमित्याति
> तर्क एव न चापरम्।
> अन्तरन्तः परामर्श-
> पाटवातिशयाय सः॥

अर्थात् परमधाम को प्राप्त करने के लिए केवल उत्तमोत्तम योग का सत्तर्क-रूप अंग ही समर्थ है, यतः योग के अन्तरङ्ग-रूपता को प्रकट करने के लिए सत्तर्क ही सर्वभाव से समर्थ है। इत्यतः जिस प्रकार यम, नियम, आसन तथा प्राणायाम — ये योग की साधना में कोई भी माने नहीं रखते हैं, उसी प्रकार शाक्तोपाय संबन्धी योग-साधना सिद्ध करने के लिए प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि ये योग के अवशिष्ट अंग भी कोई प्रयोजन नहीं रखते हैं। कहा भी है —

तदेषा धारणाध्यान-
समाधित्रितयी पराम्।
* संविदं प्रति नो कंचि-
दुपयोगं समश्नुते ॥

अर्थात् ये धारणा, ध्यान और समाधि तीन अन्तरंग योग की उपासनाएं भी पर-संवित्-धाम को प्राप्त करने के लिये कोई भी महत्व नहीं रखते। भाव यह है शाक्तोपाय-क्रम में प्रवीण साधक केवल सत्तर्क-रूप शुद्धविद्या का आश्रय लेकर ही परम-धाम में समावेश करता है। उसे तो योग के बाह्य-अंगों अथवा अन्तरंग-अंगों की तानिक-मात्र भी उपयोगिता नहीं रहती। इस प्रकार शाक्तोपाय-संबन्धित योगांगों की अनुपयोगीता का निर्णय भी विशदरूपता से समाप्त हुआ।

---

* तत्त्वदृष्टि से परसंवित्ति का अनुभव यम आदि सभी योग-संबन्धी अंगों को तिलाञ्जलि देकर यथार्थ रूपता से प्रभु के शक्तिपात से ही प्राप्त होता है — इत्यतः प्रभु-कृपा से ही चित्त-प्रलय-रूप अवस्था प्राप्त होती है, जैसा कि वीरावलि-तन्त्र में कहा है —

श्रीमद्वीरावलौ चोक्तं बोधमात्रे शिवात्मके।
चित्तप्रलयबन्धेन प्रलीने शशिभास्करे ॥
प्राप्ते च द्वादशे भागे जीवादित्ये स्वबोधके।
मोक्षः स एव कथितः प्राणायामो निरर्थकः ॥

इस श्लोक में प्राणायामो निरर्थकः कहने से पाठकों को यह समझना चाहिये कि प्राणायाम से उपलक्षित सभी योग के अंगों का वहां कोई भी प्रयोजन नहीं है।

(५)

काल्पित-अर्चनादि उपसनाओं का अनादर

शाक्तोपाय- उपासना से निष्णात योगी को काल्पित पूजा पाठ- इत्यादि का कोई भी प्रयोजन नहीं रहता, क्योंकि शाक्तोपाय- सिद्ध योगी को स्वरूप-प्रतिष्ठित होने के कारण इन पूजा, हवन इत्यादि कर्मों में न कोई इच्छा ही रहती है और न कोई आदर ही होता है। इस विषय में कहा भी है—

अयं रसो येन मनागवाप्तः
स्वच्छन्दचेष्टानिरतस्य तस्य।
समाधि-योग-व्रत-मन्त्र-मुद्रा-
जपादिचर्या विषवद्विभाति॥

अर्थात् इस चिदानन्द-रस का चमत्कार जिस ने मनाक्-मात्र भी [redacted] प्राप्त किया हो, वह तो उसी समय परमेश्वर के महान् स्वातन्त्र्य- धाम में प्रतिष्ठित बना रहता है। उसे तो समाधि का सेवन करना तथा योग, व्रत, मन्त्र- जप, मुद्रा तथा जप आदि सभी कर्म विषवत् प्रतीत होते हैं, अर्थात् उस परम-धाम- प्रतिष्ठित योगीराज को इन सभी क्रियाओं के करने को कोई भी आदर नहीं रहता। अतः शाक्तोपाय साधना में प्रवीण योगी बाह्य पुष्पादिसामग्री- जन्य पूजा नहीं करता। वह तो आन्तरिक स्वात्म- स्थिति- प्रदायिनी पूजा इस प्रकार करता है -

यत्किंचिन्मानसाह्लादि
यत्र क्वापीन्द्रियास्थितौ।
योज्यते ब्रह्मसद्धाम्नि
पूजोपकरणं हि तत्॥

अर्थात् जिस किसी इन्द्रिय में जो भी शब्दादि विषय मन में अच्छा और सुन्दर लगे वही शब्दादि विषय ब्रह्म-स्वरूप स्वात्मदेव की पूजा करने के लिए योग्य सामग्री है। भाव यह है कि शाक्तोपाय में निष्णात साधक के लिए यही वास्तविक

पूजा है। ऐसे योगी के लिए वास्तविक पूजा का लक्षण शास्त्रों में इस प्रकार वर्णन किया गया है—

पूजा नाम विभिन्नस्य
भावौघस्यापि संगतिः।
स्वतंत्राविमलानन्त-
भैरवीयाचिदात्मना॥

अर्थात् स्वतन्त्र, निर्मल, विश्वरूप चिदात्मा भैरव के साथ जहाँ भेद-प्रथात्मक भावमण्डल की एकता की जाती है, वहीं वस्तुतः यथार्थ पूजा कही जाती है। इस के अतिरिक्त ऐसे योगी के लिए गंगा-जल में नहाने का भी कोई प्रयोजन नहीं, वह तो तत्त्वदृष्टि से इस प्रकार आन्तरिक स्नान करता है—

उल्लासिबोधहुतभु-
ग्दग्धाविश्वेन्धनोदिते।
सितभस्मनि देहस्य
मज्जनं स्नानमुच्यते॥

अर्थात् तत्त्वज्ञान-संपन्न योगी के हृदय में सदैव बोध-रूप अग्नि चमकती रहती है। उसी बोधाग्नि की ज्वाला में वह समस्त भेदप्रथात्मक इन्धन का होम करता रहता है। फिर भेदप्रथात्मक जगत रूप इन्धन को जला कर जो परमानन्द-रूप परप्रमातृ-स्वरूप भस्म अवशिष्ट रहता है, उसी भस्म में वह अपनी देहप्रमातृता, प्राणप्रमातृता और पुर्यष्टकप्रमातृता का मज्जन करता है, जिस के फल-स्वरूप उस का पारमार्थिक स्नान सिद्ध होता है। अतः ऐसे योगी के लिए बाह्य-स्नान-आदि कर्मों में कोई भी आदर नहीं है। कहा भी है—

यदि मुक्तिर्जलस्नाना-
न्मत्स्यानां सा न किं भवेत्।

यदि जल-स्नान से मुक्ति प्राप्त होती है, तो फिर मत्स्य-मछली आदि जल-जन्तवों को मुक्ति क्यों नहीं होती, वे तो रात दिन सदैव जल में ही वास करते रहते हैं। इस प्रकार यहां कल्पित अर्चनादि क्रियाओं का अनादर स्पष्ट शब्दों में वर्णन किया गया।

(६) संविच्चक्रोदयप्रकरण।

तत्वदृष्टि से संविच्चक्र अनारव्य-चक्र का नामान्तर है। अनारव्य-चक्र शिव की तात्त्विक अवस्था है। हमारे शैवाचार्यों की धारणा है कि यद्यपि अन्यमतावलम्बियों ने अनारव्य-रूपता ~~का निर्णय~~ विश्वोत्तीर्ण-अवस्था तथा शिव की वह अवस्था मानी है जो केवल शान्त निस्तरंगजलधि के समान अवस्था समस्त जगद्रूपता के कल्लोलों से रहित है, पर उन मतवादियों का सिद्धान्त सर्वथा असत्य और निराधार है। इस के उलट अनारव्यरूपता विश्वात्मरूपता में ही निहित है। विश्वोत्तीर्णरूपता शिव का अपारमार्थिकस्वरूप ही है। हां यदि यह मान लिया जाये कि शिव का पारमार्थिक स्वरूप विश्वोत्तीर्ण होकर विश्वमय है और विश्वमय होकर विश्वोत्तीर्ण है तो यह सिद्धान्त सर्वथा युक्ति-युक्त है। जैसे सागर का स्वरूप निस्तरंगरूपता में नहीं ठहरा है, अपितु निस्तरंगरूपता तथा तरंगरूपता— इन दोनों का स्वरूप सागररूपता को सिद्ध करता है। जैसे कहा भी है—

निस्तरंगतरंगादि-
वृतिरेव हि सिन्धुता।

वैसे ही शिव का स्वरूप विश्वमयता में विश्वोत्तीर्ण है और विश्वोत्तीर्णता में विश्वमय है। अत एव शिव का स्वरूप सर्वतः परिपूर्ण है। परिपूर्ण उस को नहीं कहा जाता जो केवल परिपूर्ण है और अपूर्ण नहीं है, बल्कि परिपूर्ण वह है जो परिपूर्ण भी है और अपूर्ण भी है। भाव यह है कि यथार्थरूपता से विश्वात्मभाव वह अवस्था शिव की है जो विश्वमय भी है और विश्वोत्तीर्ण भी है तथा इन दोनों से परे भी है। इसी तात्त्विक शिवरूपता को दिखाने के लिये शिव का स्वरूप अनारव्य-चक्र में ठहरा हुआ वर्णन किया

गया है। वास्तव में विश्वात्मरूपता का स्वरूप वह है जो विश्वरूप भी है, विश्वोत्तीर्ण भी है और इन दोनों से परे भी है। यदि शिव केवल विश्वरूप ही होता, या केवल विश्वोत्तीर्ण ही होता अथवा केवल इन दोनों से परे ही होता तो फिर इस का विश्वात्मभाव सर्वथा निराधार और असत्य ही होता। इसी आशय से कहा भी है —

न खल्वेष शिवः शान्तो नाम काश्चिद्विभेदवान्।
सर्वेतराध्वव्यावृत्तो घटतुल्योऽस्ति कुत्रचित्॥
महाप्रकाशरूपा हि येयं संविद्विजृम्भते।
स शिवः शिवतैवास्य वैश्वरूप्यावभासिता॥

अर्थात् यह शिव शान्त तथा जगद्रूपता से परे और समस्त षट्त्रिंशत्तत्त्वों से व्यावृत्त घटतुल्य जड नहीं हो सकता। किंतु जो यह परासंवित्ति महाप्रकाशरूप सर्वभाव से सभी आशयों में तथा सभी घटपट-आदि पदार्थों में चमचमाती हुई ठहरी हुई है, वही तो तत्त्वदृष्टि से शिव है और इस की शिवरूपता विश्वात्मभाव में सर्वथा निहित है। इसी शिव की अवस्था में यहां संविच्चक्र में अथवा अनाख्यचक्र में संकेत है। अनाख्यरूप इस लिए इस शिव को कहते हैं कि यह शिव की अवस्था किसी एक नियतरूपता से नहीं ठहरी है अपितु सर्वतः सभी अवस्थाओं में इस के स्वरूप की सत्ता विद्यमान् है। इसी आशय को समक्ष रहकर कहा है —

भावा भान्तीति संवित्ता-
वात्मा भातीति भासते।
आत्मा भातीति संवित्तौ
भावा भान्तीति भासते॥

अर्थात् अनाख्यदशा में घट पट आदि पदार्थ दिखाई देते हैं- इस कहने का तात्पर्य यही है कि अनाख्यदशा में आत्मा प्रकाशित हो रहा है। यह कहना कि अनाख्य-दशा में आत्मा प्रकाशित हो रहा है — यही ज्ञान देता है कि अनाख्यदशा में घटपट आदि पदार्थ दिखाई देते हैं। भाव यह है कि सारा कुछ बाह्य अथवा आभ्यन्तर शिव की अनाख्यदशा के ही सूचक हैं।

दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि संविच्चक्रोदय को क्रम-शास्त्र अथवा काली-शास्त्र के साथ अकाट्य संबन्ध है। अनाख्य-चक्र की पूजा आन्तरिक संवित्क्रम से कालियों की पूजा ही मानी गई है। ये कालिका-भगवतियों का चक्र बारह विभागों से विभक्त हुआ है। काली-शब्द का अर्थ इन निम्नलिखित पांच प्रकारों से आचार्यों ने स्पष्ट किया है। परासंविद्रूप कालिका देवी अपने स्वरूप का प्रसार करती है, अपने स्वरूप को जान लेती है, अपने स्वरूप का परामर्श करती है, अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित रहती है और अपने स्वरूप का नाद करती है। इस प्रकार पांच प्रकार की कलनाओं से युक्त कालिका का स्वरूप जान लेना चाहिये। इस विषय में कहा भी है—

> क्षेपो ज्ञानं च संख्यानं गतिर्नाद इति क्रमात्।
> स्वात्मनो भेदनं क्षेपो भेदितस्याविकल्पनम्॥
> ज्ञानं, विकल्पः संख्यानमन्यतो व्यतिभेदनात्।
> गतिः स्वरूपारोहित्वं प्रतिबिम्बवदेव यत्।
> नादः स्वात्मपरामर्शशेषता तद्विलोपनात्॥
> इति पञ्चविधामेनां कलनां कुर्वती परा।
> देवी काली तथा कालकर्षिणी चेति कथ्यते॥

“कल क्षेपे, कल ज्ञाने, कल संख्याने, कल गतौ, कल शब्दे” इस प्रकार कल धातु का अर्थ क्षेप, ज्ञान, संख्यान, गति और शब्द-इन पांच प्रकार की कलनाओं में प्रयुक्त हुआ है। जिन का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट-शब्दों में वर्णन किया है—

समस्त भावमण्डल जो स्वरूप में अभिन्न रूपता से ठहरा हुआ है उसे अपने स्वरूप से प्रसारित करके भिन्न भिन्न प्रकार से स्थापित करना <u>क्षेप</u> कहलाता है। फिर भिन्न भिन्न रूपता से प्रसारित हुए उसे अपने स्वरूप में ही देखना <u>ज्ञान</u> कहलाता है। इस के पश्चात् उन समस्त भिन्न भिन्न पदार्थों को पारस्परिक भेद से स्थापित करना <u>संख्यान</u> कहलाता है। तदनन्तर उस समस्त भेदप्रधानात्मक भावमण्डल को स्वरूप-सत्ता के साथ एकता से समझना <u>गतिः</u> कहलाता है, अर्थात् समस्त भाव-मण्डल को उसी परधाम में प्रतिबिम्बित हुआ ही समझना। अन्त में इस समस्त भेदप्रधानात्मक जगत को पूर्णाहन्तात्मक स्वरूप के साथ परामर्श करना <u>नाद</u> कहलाता है। इस प्रकार पांच प्रकारों की कलना करती हुई कालिका-भगवती कालकर्षिणी रूप से आदर सहित <u>वर्णन</u> की गई है।

संविच्चक्रोदय की उपलब्धि के लिए साधक पहिले प्रमेय अवस्था
में सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्य-दशा का क्रम से स्वात्मानुसंधान
करता है। अर्थात् प्रमेय-भूमि की सृष्टि-दशा में परसंविद्धाम का
धारावाहिक रूप से परामर्श करता हुआ शाक्तोपाय-क्रम से श्री-
सृष्टिकाली का साक्षात्कार करता है। फिर उस सृष्टिकाली के
कालकर्षिणी धाम में ठहरा हुआ योगी प्रमेय-भूमि की स्थिति-
रूपता का स्वात्मानुसन्धान पूर्वक विमर्श करता हुआ श्री रक्तकाली
भगवती का साक्षात्कार करता है। इस रक्तकाली के स्वरूप में
यथार्थरूपता से प्रतिष्ठित होकर शाक्तयोग में निष्णात योगी
प्रमेयभूमि की संहृति का स्वात्मानुसंधान में तत्पर अकाल-
कलित स्थितिनाशकाली का अनुभव करता है। इस के पश्चात्
प्रवीण योगीराज प्रमेयभूमि की अनाख्यरूपता का अनुसंधान
करता हुआ प्रमेय-भूमि में तात्त्विक अनाख्य-चक्र की आन्तरिक
स्वात्मानुसंधानरूप पूजा में लयीभूत होता है, जिस के फल-स्वरूप
उसे श्री यमकाली का अनुभव होता है। स्मरण रहे कि यह चौथी
अनाख्यरूप अवस्था प्रमेय-भूमि की पार्यन्तिक स्वरूपास्थिति है,
जिस धाम में समाविष्ट होकर योगी संविच्चक्रोदय की स्फुट-
अवस्था का अनुभव करता है। इस प्रकार संविच्चक्रोदय के साथ
संबन्धित प्रमेय-भूमि के अन्तर्गत सृष्टिकाली[1], रक्तकाली[2], स्थिति-
नाशकाली[3] और यमकाली[4] – इन चार कालिकाओं का निर्णय
समाप्त हुआ। जहां पहुंच कर योगी कालकर्षिणीभगवती के
स्फुटस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है

इन चार कालिकाओं का स्वरूप इस प्रकार क्रमस्तोत्र में कहा है —

> कौलार्णवानन्दघनोर्मिरूपामुन्मेषमेषोभयभाजमन्तः।
> निलीयते नीलकुलालये या तां सृष्टिकालीं सततं नमामि॥
> महाविनोदार्पितमातृचक्रवीरेन्द्रकास्रग्रसपानसक्ताम्।
> रक्तीकृतां च प्रलयात्यये तां नमामि विश्वाकृतिरक्तकालीम्॥
> वाजिद्वयस्वीकृतवातचक्रप्रक्रान्तसंघट्टगमागमस्थाम्।
> शुचिर्ययास्तं गमितोऽर्चिषा तां शान्तां नमामि स्थितिनाशकालीम्॥
> सर्वार्थसंकर्षणसंयमस्य यमस्य यन्तुर्जगतो यमाय।
> संकर्षयन्तीं प्रणमामि कालीम्॥
> वपुर्महाग्रासविलासरागात् संकर्षयन्तीं प्रणमामि कालीम्॥

इन श्लोकों का अर्थ विस्तारभय से यहां नहीं किया गया। मैं ने इन श्लोकों का
अर्थ अपनी पुस्तक क्रमनयप्रदीपिका में किया है। पाठक वहां ही इन श्लोकों
का अर्थ देखें।

इस प्रकार प्रमेय-अंश का ग्रास करने में रासिक सृष्टि आदि चार कालिकाओं की उपलब्धि करने के पश्चात् प्रमाण-भूमि में ठहरी हुई चार कालिकाओं की व्याख्या की जाती है। जब शाक्तोपाय के परामर्श से प्रमेयान्तर्गत चार कालिकाओं के स्वरूप में योगी सिद्धहस्त हो जाता है, फिर वह योगी प्रमाणावस्था में प्रविष्ट होकर उस की सृष्टि-दशा का परामर्श करते करते प्रमाण-भूमि की पहिली सृष्टि-दशा के अनुसंधान से उन्मना रूप संहारकाली का अनुभव करता है। तदनन्तर स्वात्मपरामर्श की तीव्रता से प्रमाणान्तर्गत स्थिति दशा के संविच्चक्र में मृत्युकाली का साक्षात्कार करता है। इस के पश्चात् भैरवाकार-रूप परामर्श करता हुआ योगी प्रमाण-भूमि की तीसरी संहृतिदशा में जाकर भद्रकाली के स्वरूप में समावेश करता है, जिस अवस्था में वह योगी भेदप्रथात्मक जगत को एकओर लय करता है और दूसरी ओर भेद-दशा को फिर से संविच्चक्ररूपतया दिखाता है, जिस के फल-स्वरूप उस योगी को जगत और शिव में तनिक मात्र भी भेद प्रतीत नहीं होता। तात्पर्य यह है कि उस योगी के लिए यह अनाख्यदशा की संवित्ति भद्रकालिका के रूप से और रुद्र-कालिका के रूप से एक साथ प्रतीत होती है। अर्थात् भेद के दिखलाने से और भेद का रोदन करने से भद्रकाली ही रुद्रकाली के रूप में प्रकाशित होती है और रुद्रकाली ही भद्रकाली के रूप से दिखाई देती है। इस परासंवित्तिरूप कालिका के विषय में कहा है—

रोधनाद्द्रावणाद्रूपमित्थं कलयते चितिः।
तदपि द्रावयेदेव तदप्याश्यानयेदथ ॥

अर्थात् यह रुद्रकाली अथवा भद्रकाली उस भेदप्रथात्मक जगत को लय करके फिर से अपने अनाख्यचक्र में आश्यानीभाव से प्रतिष्ठित करती है। इस संहाररूप-चक्र का उदय करके योगी प्रमाणदशा की अनाख्यदशा में प्रबल अनुसन्धान के द्वारा मार्तण्डकालिका का साक्षात्कार करता है, जिस के फलस्वरूप वह योगी प्रमाण-भूमि की अन्तिम अनाख्य रूप अवस्था पर पहुंच कर अकालकलित संविच्चक्रोदय की स्फुटतर अवस्था में समावेश करता है। इस प्रकार* प्रमाणदशा की सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्य रूपता में संहारकाली, मृत्युकाली, भद्रकाली और मार्तण्डकालि — इन चार कालिकाओं के स्वरूप का निर्णय समाप्त हुआ। ~~इन उपरोक्त चार कालिकाओं का स्वरूप वर्णन इन श्लोकों में निहित है—~~

---

* इन उपरोक्त चार कालिकाओं का स्वरूपनिर्णय इन श्लोकों में निहित है—

उन्मन्यनन्ता निखिलार्थगर्भा या भावसंहारनिमेषमेति।
सदोदिता सत्युदयाय शून्यां संहारकालीं मुदितां नमामि॥

ममेत्यहंकारकलाकलापविस्फारहर्षोद्धूतगर्वमृत्युः।
ग्रस्तो यया घस्मरसंविदं तां नमाम्यकालोदितमृत्युकालीम्॥
विश्वं महाकल्पविरामकल्पभवान्तभीमभ्रुकुटिभ्रमन्त्या।
याश्नात्यनन्तप्रभवार्चिषा तां नमामि भद्रां शुभभद्रकालीम्॥
मार्तण्डमापीत पतङ्गचक्रं पतङ्गवत्कालकलेन्धनाय।
करोति या विश्वरसान्तकां तां मार्तण्डकालीं सततं प्रणौमि॥

'एवं प्रमाणांशभक्षणप्रवणं कालिकाचतुष्टयं निर्णीतम्'
इस प्रकार प्रमाण-भूमि के ग्रास करने में लगी हुई
संहारकाली, मृत्युकाली, भद्रकाली और मार्तण्डकाली —
इन चार कालिकाओं के स्वरूपों का निरूपण हो गया।
स्मरण रहे कि प्रमाण-भूमि की अन्तिम अनाख्यदशा
का समावेश करने पर योगी संविच्चक्रोदय की उपलब्धि
स्फुटतर रूप से प्राप्त करता है। यहां यह कहना भी
अप्रासंगिक न होगा कि इन चार कालिकाओं के
श्लोकों का अर्थ पाठक-जन मेरी क्रमनयप्रदीपिका
में देखें।

अब प्राप्तावसर प्रमातृ भूमि का चर्वण करने में चतुर अवशिष्ट चार कालिकाओं का स्वरूप-निर्णय किया जा रहा है। शाक्तोपाय-क्रम में सुनिष्णात योगी कालसंकर्षिणी-धाम की स्फुरतर अवस्था में समाविष्ट होकर उस की स्फुटतम अवस्था प्राप्त करने के लिए प्रमातृ-दशा में स्थित सृष्टि-रूपता का अनुसंधान करता हुआ उस सृष्टि-रूपता में सुव्यवस्थित परमार्ककाली में समावेश करता हुआ उसी परमार्ककाली के स्वरूप की एकता प्राप्त करता है। इस परासंवित्ति-रूप परमार्ककाली की महत्ता के विषय में श्री पञ्चशतिक-तन्त्र में जगदम्बा आदि शक्ति ने इस प्रकार शिव को उपदेश किया है—

एकाकिनी चैकवीरा सुसूक्ष्मा सूक्ष्मवर्जिता।
परमात्मपदावस्था परापरस्वरूपिणी॥
सा कला पररूपेण यत्र संलीयते शिव।
सा कला परमार्केति ज्ञेया भस्माङ्गभूषण॥

अर्थात् हे शिव जो परा देवी अद्वितीया, एकवीरा, सूक्ष्म और सूक्ष्म-रूपता से भी परे है, जो भेददशा में और अभेददशा में केवल परप्रमातृभाव में ही ठहरी है, वही आदि-शक्ति जहां और जिस स्वरूप में पाई जाती है, वही शक्ति परमार्ककाली के रूप में ठहरी हुई समझ लेनी चाहिए।

इस प्रमातृदशा में स्थित परमार्ककाली का अनुभव करने के अनन्तर योगी प्रमातृदशा की स्थितिरूपता का परामर्श करता हुआ कालाग्निरुद्रकाली का अनुभव करता है। इस कालाग्निरुद्रकाली के स्वरूप में समाविष्ट होकर योगी अपने समस्त इन्द्रिय-वृत्तियों पर शासन करता हुआ मितप्रमातृदशा को सर्वभाव से वशीभूत करता है। इस कालाग्निरुद्र काली का स्वरूप-निर्णय आदिशक्ति पार्वती जी ने श्री पञ्चशतिक तन्त्र में इस प्रकार किया है—

वरदा विश्वरूपा च गुणातीता परा कला।
अघोषा सास्वरारावा कालाग्निग्रसनोद्यता॥
निरामया निराकारा यस्यां सा शाम्यति स्फुटम्।
कालाग्निरुद्रकालीति सा ज्ञेयामरवन्दित॥

अर्थात् हे समस्त देवताओं के द्वारा अभिवन्दित शंकर! जो उत्तमोत्तम परासंवित्ति की कला, वर देने वाली गुणातीत विश्वमय कला कालाग्नि-रूप मितप्रमातृ-भाव को लय करने में चतुर निराकार आदि-शक्ति है, उसी को आप कालाग्निरुद्रकाली का स्वरूप समझ लीजिये।

इस प्रकार प्रमातृभूमि की स्थितिरूपता में समाविष्ट होकर योगी कल्पित-प्रमातृ-भाव की सीमा का उल्लंघन करता हुआ बिना आयास ही प्रमातृ-दशा की संहारावस्था में प्रवेश करता है, जहां वह 'इदं सर्वमहम्', इस प्रकार अत्युत्कृष्ट स्वात्मसंवितिरूप पूर्णाहन्ता में स्पष्टरूपता से समाविष्ट होता है, जिस के अनन्तर वह परसंवित्ति के अकुल-धाम में प्रवेश करता है - इस के संबन्ध में यह श्लोक कहा है -

अव्ययमकुलममेयं
विगलितसदसद्विवेककल्लोलम्।
जयति प्रकाशविभव-
स्फीतं काल्याः परं धाम ॥

अर्थात् कालिका भगवती के उस प्रकाशविमर्शमय परम-धाम की जय हो, जो अविनाशी, विश्वोत्तीर्ण, अप्रमेय तथा सदसद्रूप कल्लोलों से रहित है। इस प्रकार प्रमातृगत संहारदशा में प्रविष्ट होकर योगी आप ही आप <u>महाकालकाली</u> के स्वरूप का साक्षात्कार करता है। इस महाकालकाली के स्वरूप का निरूपण पञ्चशतिकतंत्र में पार्वती जी ने इस प्रकार किया है —

सत्योज्ज्वला महादीप्ता सूर्यकोटिसमप्रभा।
कलाकलङ्करहिता कालस्य कलनोद्यता।
यत्र सा लयमाप्नोति कालकालीति सा स्मृता ॥

अर्थात् हे शिव! जो परा शक्ति सत्य से उज्ज्वल बनी हुई देदीप्यमान् है, जो करोड़ों सूर्य के समान उत्कृष्ट प्रभा से चमकती है, जो किसी भी कलङ्क से अकलङ्कित और महाकाल को भी संहृत करने में सर्वथा उद्यत है, वही पराशक्ति भगवती महाकालकाली के स्वरूप से समझ लीजिये।

इस प्रकार प्रमातृ-दशा की संहारावस्था में महाकालकाली के स्वरूप में समाविष्ट होकर योगी स्वयं ही प्रमातृ-भूमि की अनाख्य-दशा में लय हो जाता है, जहां वह योगी <u>महाभैरवचण्डोग्रघोरकाली</u> के परमधाम में प्रवेश करता है। इस परमधाम में प्रविष्ट होकर योगी संविच्चक्रोदयावस्था की पारमार्थिक स्फुटतम अवस्था को प्राप्त करता है। इसी अवस्था को [redacted]से अकालकलित-अवस्था, कालकर्षिणी, अव्यपदेश्यावस्था इत्यादि अनेक नामों से शास्त्रों में विभूषित किया है।

इस प्रमातृदशा की अनारव्य-पदवी में प्रमातृपद से महाभैरवशब्द का, मेय-भाव में चण्डशब्द का, प्रमीति पद से उग्रशब्द का और प्रमाण भूमि से घोरशब्द का आक्षेप हुआ है। फलतः शास्त्रों में इस परासंवित्ति की अवस्था को महाभैरवचण्डोग्रघोरकाली के नाम से अलंकृत किया है। इस कालकर्षिणी भगवती के स्वरूप का निरूपण पञ्चशतिकतन्त्र में इस प्रकार किया है —

दशसप्तविसर्गस्था महाभैरवभीषणा।
संहरेद्भैरवान्सर्वान्विश्वं च सुरपूजित॥
सान्तः शाम्यति यस्यां च सा स्याद्भैरवभैरवी।
महाभैरवचण्डोग्रघोरकाली परा च सा॥

अर्थात् हे देवताओं से पूजित महादेव! प्रमातृ-दशा में स्थित आठ कलाओं से, प्रमाण-भूमि में ठहरी हुई बारह कलाओं से और प्रमेय-भाव में सुव्यवस्थित सोलह कलाओं से परे जो परमधाम की सतरहवीं कला में ठहरी हुई पराशक्ति महाभैरव को भी डराने वाली कला, समस्त भैरव-मण्डल को उन के संसार-सहित संहृत करती है, वही परा कला सर्वतः परिपूर्ण महाभैरवचण्डोग्रघोरकाली के नाम से कही जाती है। इस प्रकार यहां संविच्चक्र-संबन्धी बारह कालिकाओं की व्याख्या समाप्त हुई। ~~प्रमातृचक्र में अवस्थित चार कालिकाओं का~~ ~~स्वरूप~~ [redacted]

प्रमातृदशा में स्थित परमार्ककाली, कालाग्निरुद्रकाली, महाकालकाली और महाभैरवचण्डोग्रघोरकाली- इन चार कालिकाओं का स्वरूप क्रमस्तोत्र के इन श्लोकों में निहित है —

अस्तोदितद्वादशभानुभाजि यस्यां गता भर्गशिखा शिखेव।
प्रशान्तधाम्नि द्युतिनाशमेति तां नौम्यनन्तां **परमार्ककालीम्**॥
कालक्रमाक्रान्तदिनेशचक्रक्रोडीकृतानलाग्निकलाप उग्रः।
कालाग्निरुद्रो लयमेति यस्यां तां नौमि **कालानलरुद्रकालीम्**॥
नर्त्ती महाभूतलये श्मशाने दिक्खेचरीचक्रगणेन साकम्।
काली महाकालमलं ग्रसन्तीं वन्दे ह्यचिन्त्यामनिलानलाभाम्॥
क्रमत्रयत्वाष्ट्रमरीचिचक्रसंहारचातुर्यतुरीयसत्ताम्।
वन्दे **महाभैरवघोरचण्डकालीं** कलाकाशशशाङ्ककान्तिम्॥

इन श्लोकों का अर्थ पाठक-गण मेरी क्रमनयप्रदीपिकानामक पुस्तिका में अवलोकन करने का प्रयास करेंगे।

मन्त्रवीर्यस्वरूपनिरूपणम्

जो परावाक्-स्वरूप स्वरसोदित अहंपरामर्शात्मा नाद है, वही तत्त्वदृष्टि से अहंपरामर्श रूप मन्त्रवीर्य का स्वरूप है। यद्यपि अहंरूप मन्त्रवीर्य है तथापि यह मन्त्र सृष्ट्यात्मक प्रसररूप भी है और संहारात्मक प्रवेशरूप भी है। प्रसररूप अवस्था में यह अ-ह-म् रूपता से उल्लासित होता है और प्रवेशरूपता में यह मन्त्र म्-ह-अ रूपता से प्रफुल्लित होता है। इस मन्त्र की प्रसररूपता में शक्ति की प्रधानता है और प्रवेशरूपता में शिव की प्रधानता दिखाई देती है। यह प्रसरात्मक और प्रवेशात्मक अहंरूप मन्त्र किसी अन्य बाह्य-प्रयत्न से उच्चरित नहीं होता, अपितु यह मन्त्रवीर्य रूप नाद प्राणियों में स्वयं ही उच्चरित होता हुआ ठहरा है। कहा भी है—

नास्योच्चारयिता कश्चित्प्रतिहन्ता न विद्यते।
स्वयमुच्चरते देवः प्राणिनामुरसि स्थितः॥

अर्थात् यह मन्त्रवीर्य रूप, देव, समस्त प्राणियों के हृदय में ठहरा हुआ आप ही आप उच्चरित होता है। इस मन्त्रवीर्य रूप नाद को न कोई उच्चार ही करता है और इस की उच्चरितरूपता को, न कोई रोक ही सकता है। यह अहंपरामर्श रूप मन्त्र समस्त मन्त्रों का सारभूत हृदय माना ~~हुआ~~ गया है। इसी मन्त्र को स्वरसोदित परावाक्, चितिः, स्वातन्त्र्य, परमात्मा का मुख्य ऐश्वर्य, सार, स्फुरत्ता, महासत्ता, और ऊर्मि—इत्यादि अनेक नामों से शास्त्रों में ~~विभूषित~~ अभिहित किया है। कहा भी है—

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
स्वातंत्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः॥
सा स्फुरत्ता महा सत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥

अर्थात् यह अहमात्मक मन्त्रवीर्य स्वरसोदित परावाक्, चिति-संवित्ति, मुख्य स्वातन्त्र्य, परमात्मा का ऐश्वर्य, स्फुरत्ता, महासत्ता, देशकाल*—तथा आकार से अविशेषित तथा सारभूत परमशिव का हृदय—इत्यादि अनेक नामों से अलंकृत किया गया है।

---

* देश से अविशेषित होने से यह मन्त्रवीर्य सर्वव्यापक है, काल से अविशेषित होने के फल-स्वरूप यह नित्य है और आकार से अविशेषित होने के कारण यह मन्त्रवीर्य रूप संवित्ति विश्वाकार है।

यह प्रसरात्मक तथा प्रवेशात्मक मन्त्रवीर्य रूप हृदय सामान्यात्मक स्पन्दरूपता से भी नामांकित किया गया है। सामान्य-स्पन्द इस लिये यह माना हुआ है कि जगद्वर्ती भेदप्रधात्मक विशेष स्पन्दों में भी यह अभिन्नरूपता से ही उल्लसित होता है – अर्थात: इस हृदयपरामर्श का उल्लास भेदप्रधात्मक विशेष स्पन्दों की दशाओं में भी उन विशेषों से अविशेषित सामन्यस्पन्दरूपता से ही उल्लसित होता हुआ ठहरा है। कहा भी है —

हृदये स्वविमर्शोऽसौ द्रावितोशेषविश्वकः।
भावग्रहादिपर्यन्तभावी सामान्यसंज्ञकः॥
स्पन्दः स कथ्यते शास्त्रे स्वात्मन्युच्छलनात्मकः।
किंचिच्चलनमेतावदनन्यस्फुरणं हि यत्॥
ऊर्मिरेषा विबोधाब्धेर्न संविदनया विना॥

अर्थात् विश्वप्रतिष्ठास्थान चित्प्रकाशरूप हृदय में जो स्वात्मपरामर्श, घटपट आदि भिन्नभिन्न वस्तुवर्गों के उदयस्थान से लेकर उन के भेदावभासात्मक विकासस्थान तक सामान्य रूपता से एक जैसा दिखाई देता है, वही सत्ता स्पन्द की सामान्यसत्ता कही जाती है – ऐसा ही स्पन्दशास्त्रों में स्वरूप की सत्ता मन्त्रवीर्य की सत्ता है, जो सदैव स्वरूप उन्मेषदशा में तथा स्वरूपनिमेषदशा में एक जैसी बनी रहती है। इस मन्त्रवीर्य-रूप सत्ता की स्फुरत्ता भेदरूपता में और अभेदरूपता में सदा एकजैसी ही ठहरी रहती है। अर्थात् ये बोधसागर में ऊर्मि है – अर्थात: इस स्पन्दरूप ऊर्मि के विना इस मन्त्रवीर्य की सत्ता रह ही नहीं सकती। भाव यह है कि स्पन्ददशा की जो किंचिच्चलत्ता है वह इस के स्वरूप के साथ अनन्य है और इस बोध सागर का स्पन्द, स्वरूप-स्पन्द ही समझ लेना चाहिये। कहा भी है —

एतद्रूपपरामर्शमकृत्रिममनाविलम्।
अहमित्याहुरेषैव प्रकाशस्य प्रकाशता॥
एतद्वीर्यं हि सर्वेषां मन्त्राणां हृदयात्मकम्।
विनानेन जडास्ते स्युर्जीवा इव विना हृदा॥

अर्थात् इस अकृत्रिम स्वात्मस्वरूप को परामर्श को ही अहम् कहते हैं। यही प्रकाश की प्रकाशरूपता है, यही अहम् सभी मन्त्रों का

हृदयात्मक वीर्य है, और इस अहंपरामर्श के बिना सभी मन्त्रमण्डल जड हैं, जैसे समस्त प्राणी हृदय के बिना जड ही हैं। इस अहं-स्वरूप के साथ संबन्धित यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जो इन निम्न-लिखित – 'मैं देह हूं, मैं बलिष्ठ हूं, मैं क्षीण हूं, मैं क्षुधित हूं, मैं सुखी हूं और मैं दुःखी हूं'— इत्यादि इन अवस्थाओं में अहंप्रतीति दिखलाई देती है – वह अहंप्रतीति तो अहंपरामर्श न होकर केवल विकल्परूपता ही समझ लेनी चाहिये। कारण यह है कि इन सभी अहंप्रतीतियों में इस के साथ दूसरी दूसरी उलटी प्रतीति ठहरी ही रहती है – जैसे 'मैं देह हूं' – इस प्रतीति के साथ यह प्रतीति भी अनुभव में आती है कि 'यह दूसरे का देह मैं नहीं हूं'– इसी तरह 'मैं बलवान् हूं'– इस प्रतीति के साथ 'मैं कमज़ोर नहीं हूं'– यह विरोधी प्रतीति भी दिखाई देती है। भाव यह है कि जिस अहं-प्रतीति में दूसरी प्रतियोगी अहंप्रतीति का प्रकाश होता है, वह अहंप्रतीति तो अहंपरामर्श न होकर विकल्प ही समझना चाहिये। किंतु जिस अहंप्रतीति में कोई अन्य प्रतियोगी अहं-प्रतीति न पाई जाये वहीं स्वरूपपरामर्श-मय अहं-परामर्श समझ लेना चाहिये। इस विषय में कहा भी है—

अहंप्रत्यवमर्शो हि
प्रकाशात्मापि वाग्वपुः।
नासौ विकल्पो स ह्युक्तो
द्वयाक्षेपि विनिश्चयः॥

अर्थात् जो वाग्-विमर्श अहंप्रकाश है, वह कदापि विकल्प का स्वरूप नहीं माना जायेगा। क्योंकि विकल्प की सत्ता में दूसरी प्रतियोगी सत्ता साथ ही ठहरी रहती है, और इस के उलट अहंपरामर्श की सत्ता में केवल अहंपरामर्श का ही साम्राज्य बना रहता है, यतः इस अहं परामर्श की सत्ता में किसी भी विकल्प का समावेश नहीं होता।

जैसा हम पहिले अहं-परामर्श के संबन्ध में वर्णन कर चुके हैं कि यह अहंपरामर्श प्रसरात्मक अहं-रूपता से और प्रवेशात्मक महअ रूपता से ठहरा हुआ है, उस विषय में यह भी पाठकों को निश्चय करना अत्यावश्यक है कि प्रसरात्मक अहं परामर्श सृष्टिहृदय कहलाता है और प्रवेशात्मक महअ परामर्श संहार-हृदय के नाम से अलंकृत किया गया है। प्रसरात्मक सृष्टि-हृदय-रूप अहं परामर्श में 'सौः'– इस परा बीज का

समावेश है और प्रवेशात्मक संहार-हृदय-रूप 'महअ' परामर्श में 'रह्रक्षेम्'- इस पिण्डनाथ-मन्त्र का समावेश समझना चाहिये। अब प्रथम में प्रसरात्मक अहंरूप (सऔ-अः) - इस पराबीज-मन्त्र का विचार किया जा रहा है। इस पराबीज में स्, औ और अः— इन तीन बीजाक्षरों का समुच्चय है। इस पराबीज के पहिले 'स्' बीजाक्षर में पृथ्वीतत्त्व से लेकर मायातत्त्व तक इकतीस✦ तत्त्वों का समावेश हुआ है, और 'औ'- इस पराबीज के दूसरे बीजाक्षर में शुद्धविद्या, ईश्वर और सदाशिव - ये तीन तत्त्व समाविष्ट हुए हैं और 'अः' इस पराबीज के तीसरे बीजाक्षर में शक्ति और शिव - ये दो तत्त्व निहित हैं। ~~इत्यतः~~ अतः इस पराबीज में सभी छत्तीस तत्त्वों का समावेश समझना चाहिए। अब यहां यह शंका होती है कि इस पराबीज में पहिले भेदप्रधान इकत्तीस तत्त्वों का, फिर भेदाभेदप्रधान तीन तत्त्वों का और अन्त में अभेदप्रधान दो तत्त्वों का समावेश होने के कारण यह पराबीज का परामर्श प्रसरात्मक तो नहीं दीखता है, यह परामर्श भी प्रवेशात्मक ही दिखाई देता है, इत्यतः यह सृष्टि-हृदय अथवा प्रसरात्मक कैसे माना जायेगा। इस का समाधान तो यूं हो सकता है कि वास्तव में जगत् की प्रसरात्मक दशा और प्रवेशात्मक दशा - दोनों शिव में ही प्रतिष्ठित हैं - इसी आशय से पराबीज के तीसरे अन्तिम 'अः'- इस बीजाक्षर में दो बिन्दु हैं, जिनमें से एक बिन्दु प्रसर की ओर संकेत करता है और दूसरा बिन्दु इस के प्रवेश की ओर संकेत करता है। भाव यह है कि प्रसर में भी प्रवेश-सत्ता ठहरी हुई है और प्रवेश में भी प्रसरसत्ता निहित है। ~~इत्यतः~~ अतः यहां उपरोक्त शंका के उत्थान का अवकाश ही नहीं है। त्रिकशास्त्रों की अद्वैत-दशा यही है कि द्वैत में भी अद्वैत है और अद्वैत में भी द्वैत ठहरा है। अत एव गुरु-संप्रदाय-क्रम से पराबीज अथवा अहम् मंत्र ~~प्रवेशात्मक~~ प्रसरात्मक - दशा का ही सूचक है और प्रवेशात्मक का नहीं।

✦ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, उपस्थ, पायु, पाद, पाणि, वाक्, घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र, मन, बुद्धि, अहंकार, प्रकृति, पुरुष, नियति, काल, राग, विद्या, कला, और माया - ये इकत्तीस तत्त्व पराबीज के पहिले 'स्' बीजाक्षर में निहित हैं।

यहां यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि पराबीज के पहिले स बीजाक्षर में पृथ्वी-अण्ड, प्रकृत्यण्ड, और मायाण्ड—ये तीन अण्ड ठहरे हुए हैं, दूसरे औ बीजाक्षर में शक्त्यण्ड ठहरा हुआ है और तीसरे अः बीजाक्षर में सर्वातीत परम-पद ठहरा हुआ है। कहा भी है—

सार्णेनाण्डत्रयं व्याप्तं
त्रिशूलेन चतुर्थकम्।
सर्वातीतं विसर्गेण
पराया व्याप्तिरिष्यते॥

अर्थात् पराबीज के 'स' बीजाक्षर ने ब्रह्माण्ड°, प्रकृत्यण्ड+ और शक्त्यण्ड—इन तीन अण्डों को व्याप्त किया है, त्रिशूल● अर्थात् पराबीज के दूसरे 'औ' बीजाक्षर ने चौथा शक्त्यण्ड व्याप्त किया है और विसर्ग अर्थात् पराबीज के तीसरे 'अः' बीजाक्षर से सर्वातीत शक्ति-शिवात्मक पद व्याप्त हुआ है—इस प्रकार पराबीज की सर्वव्यापकता आगमों में प्रसिद्ध है। इसी प्रकार पांच कलाओं के संप्रदाय-क्रम से 'स' बीजाक्षर ने निवृतिकला, प्रातिष्ठाकला और विद्याकला—इन तीन कलाओं को व्याप्त किया है। 'औ' बीजाक्षर में शान्ताकला की व्याप्ति है और 'अः' बीजाक्षर ने शान्तातीताकला को व्याप्त किया है। इस क्रम से पराबीज के परामर्श में निवृतिकला, प्रतिष्ठाकला, विद्याकला, शान्ताकला और शान्तातीताकला—इन पांच कलाओं का स्वरूप भी निहित है।

इस 'सौः' पराबीज की प्रसरात्मक दशा की पुष्टि करने के लिये यह श्लोक भी ध्यान देने योग्य है—

एवं सद्रूपतैवैषां सतां शक्तित्रयात्मकताम्।
विसर्गं परबोधेन समाश्लिष्यैव वर्तते॥

अर्थात् इस प्रकार स बीज में 'औ' रूप का प्रसार हुआ है और औ रूप में 'अः' इस परबोधरूप विसर्ग का समावेश संपूर्णतया अवस्थित है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वदृष्टि से विसर्ग (अः) औ में प्रसारित हुआ 'स'—इस पराबीज में प्रसररूपता से ठहरा हुआ है—इस कथन से भी यही सिद्ध हुआ कि अहम् रूप सौः बीज प्रसरात्मक ही है।

° ब्रह्माण्ड पृथ्वी-अण्ड का पर्यायवाची शब्द है।
\+ प्रकृत्यण्ड मूल-अण्ड का पर्यायवाचक है।
● त्रिशूलबीज औकार को कहते हैं, क्योंकि इस औकार में इच्छा, ज्ञान, और क्रिया—इन तीन शक्तियों का समावेश है।

अब हम प्राप्तावसर 'महअ'- इस संहारहृदयात्मक 'र्क्ष्खें'- इस पिण्डनाथ मन्त्र के स्वरूप का विचार करने का प्रयास करेंगे। शाक्तोपाय-उपासना में सिद्धहस्त साधक इस प्रकार प्रवेशात्मक मन्त्र का अनुसन्धान करता है। प्रथमतः प्रमेय-भाव में स्थित बाह्य जगत को प्रमाणात्मक बोधाग्नि में लय करके पिण्डनाथ-मन्त्र के प्रथम 'र्' बीज का साक्षात्कार करता है। तत्पश्चात् प्रमाणान्तर्गत बोधाग्नि में जगत को ठहरा कर मितप्रमातृभाव के भीतर उस जगत को परिमितप्रमातृदशा में स्थापित करके पिण्डनाथ के 'क्ष'- इस बीजमन्त्र का अनुसंधान करता है। तदनन्तर उस परिमित-प्रमातृगत जगत को फिर से स्वात्मानुसंधान की प्रबलता से परप्रमातृभाव के साथ तन्मय बना कर पिण्डनाथ-मन्त्र के 'ख' बीजमन्त्र की सत्ता का अनुभव करता है। तत्पश्चात् परप्रमातृदशा के साथ एकता को प्राप्त हुए उस जगत को क्रिया, ज्ञान और इच्छा-इन तीन शिव-शक्तियों में समावेश करके पिण्डनाथ-मन्त्र के त्रिकोणबीज 'ए' बीजाक्षर में समाविष्ट होता हुआ, पर्यन्त में शिव की स्वातन्त्र्यशक्तिरूपिणी पिण्डनाथमन्त्रसंबन्धिनी बिन्दु-सत्ता की एकता का साक्षात् अनुभव करते हुए पिण्डनाथ की कालसंकर्षिणी की पारमार्थिक स्वरूपसत्ता में स्थान बना लेता है-इस प्रकार पिण्डनाथ-मन्त्र की तात्त्विक संहारावस्था में स्थायी-रूप से प्रतिष्ठित होता है। इस विषय में कहा भी है—

सर्वसंहारसंहारसंहार-
मपि संहरेत्।
सा शक्तिर्देवदेवस्या-
भिन्नरूपा शिवात्मिका॥

अर्थात् समस्त प्रमेयवर्ग की प्रमाणात्मक संहारावस्था को मितप्रमातृ-रूप संहार-अवस्था में प्रविष्ट करके उस मितप्रमातृ-भावात्मक संहार-दशा को भी परप्रमातृभावरूप संहारावस्था में निविष्ट करके जो स्वरूप-सत्ता उस परप्रमातृरूप संहारावस्था को भी स्वातंत्र्यशक्त्यात्मक सर्वसंहारदशा में संहृत करती है, वही परमशिव के साथ अभिन्न बनी हुई महाशक्ति का परमधाम है।
इस प्रकार 'र्क्ष्खें'- इस पांच मन्त्राक्षरों वाले पिण्डनाथ रूप 'महअ' परामर्श का स्वरूप संहारहृदयरूपता से सिद्ध हुआ।
इस विषय में कहा भी है—

कालानलाद्व्योमकलावसानं
चिन्त्यं जगद्ग्रासकलालयेन।
चक्रं महासंहृतिरूपमुग्रं
गतं चिदाकाशपदस्थमित्थम्॥

अर्थात् कालाग्निरुद्र के 'र'- इस प्रमाणरूप स्थान से लेकर व्योमकला अर्थात् 'अं' रूप बिन्दु के स्थान तक यह सारा प्रमेय-प्रमाण-मितप्रमाता, परमाता और परास्वातन्त्र्यशक्ति स्वरूप-प्रपञ्च एक दूसरे स्वरूप में लयीभूत बना हुआ समझना चाहिए - जिस के फल-स्वरूप यह सारा कुछ । चिदाकाश - में स्थित महासंहारदशा में पूर्णतया समाविष्ट हो जाये। ध्यान रहे कि इस पिण्डनाथ-मन्त्र की स्वरूपसत्ता में कुण्डलिनी योग का संप्रदाय और मन्त्रमण्डल का संप्रदाय - ये दोनों निहित हैं। कहा भी है —

शिवनभसि विगलिताक्षः कौण्डिल्युन्मेषविकासितानन्दः ।
प्रज्वालितसकलरन्ध्रः कामिन्या हृदयकुहरमधिरूढः ॥
योगी शून्य इवास्ते तस्य स्वयमेव योगिनीहृदयम् ।
हृदयनभोमण्डलगं समुच्चरत्यनलकोटिशतदीप्तम् ॥

इस श्लोक में पिण्डनाथ-संबन्धित मन्त्रसंप्रदाय के क्रम का और कुण्डलिनी-योगसंप्रदाय के क्रम का संकेत निहित है। पहिले मैं मन्त्रसंप्रदाय-क्रम का विवरण करूंगा। वह इस प्रकार से है — योगी पहिले समस्त प्रमेयरूप इन्द्रिय-वर्गों को प्रमाणरूप शिवरूप आकाश में लय करता है। [redacted] इस अवस्था में पिण्डनाथमन्त्र के पहिले 'र'- बीजाक्षर का संकेत है। फिर योगी ऐसा करके प्रमाणान्तर्गत 'र' बीजाक्षर को कुण्डलिनी [redacted] के उन्मेष से आनन्दरूप 'क्ष' बीजाक्षर में उसे [redacted] मितप्रमातृदशा के स्वरूप में विकासित करता है। इस के पश्चात् 'प्रज्वालितसकलरन्ध्र' अर्थात् मितप्रमातृभाव को परप्रमातृदशा के समावेश से [redacted] जाज्वल्यमान बना देता है, जहां हमें पिण्डनाथ के तीसरे [redacted] 'ख' रूप बीजाक्षर का संकेत मिलता है। तदनन्तर 'कामिन्या हृदयकुहरमधिरूढः'- इस से हमें त्रिकोणरूप 'ए' बीजाक्षर का संकेत मिलता है, जहां वह योगी कामिनी अर्थात् इच्छाज्ञानाक्रियारूपता में समावेश करता है। तत्पश्चात् योगी 'शून्य इवास्ते'- इस पद में यह भाव मिलता है कि योगी महाशून्यावस्था में चला जाता है जिससे हमें पिण्डनाथमन्त्र के पांचवें बीजाक्षर 'अं' अर्थात् बिन्दु का संकेत मिलता है। इस प्रकार मैं ने इन श्लोक के अन्तर्गत मन्त्रसंप्रदाय के आधार पर विवरण किया है। अब इसी श्लोक में जो कुण्डलिनी का संप्रदाय ठहरा हुआ है - उसे मैं संक्षेप से सूचित करता हूं।

जब योगी के प्राणापान मध्यमार्ग में लय हो जाते हैं उस अवस्था का संकेत हमें 'शिवनभसि विगलिताक्षः' श्लोक के इस पद में मिलता है। फिर मध्यधाम में प्राणापान के लय होने के अनन्तर जब योगी के प्राणापान मूलाधार में पहुंच कर उस

स्थान से कुण्डलिनी के आकार में मध्य धाम में ऊपर ब्रह्मरन्ध्र की ओर सञ्चार करते हैं वहां हमें इस श्लोक के 'कौण्डालिन्युन्मेषविकासितानन्दः'–इस पद का संकेत मिलता है। तत्पश्चात् जब योगी कुण्डलिनी के उत्थान का अनुभव करके ब्रह्मरन्ध्र स्थान में पहुंच जाता है उस ऊर्ध्वकुण्डलिनी की अवस्था का संकेत हमें श्लोक के "प्रज्वालितसकलरन्ध्रः"– इस पद में मिलता है। तदनन्तर योगी जब संकोच-विकास समाधि का अनुभव करता है – उस परावस्था का संकेत हमें श्लोक के "कामिन्या हृदय कुहरमधिरूढः"– इस पद में मिलता है। फिर जब योगी इस अवस्था में समाधि और व्युत्थान के सामरस्य का अनुभव करता है– उस अवस्था का संकेत हमें "योगी शून्य इवास्ते" इस श्लोक-पद में मिलता है। तदनन्तर योगी जब वहां जगदानन्ददशा का अनुभव करता है उस अवस्था का संकेत हमें श्लोक के "तस्य स्वयमेव योगिनीहृदयम्। हृदय-नभोमण्डलगं समुच्चरत्यनलकोटिशतदीप्तम्"– इस श्लोक-भाग में मिलता है। अब पाठकों की सुविधा के लिए मैं श्लोकान्तर्गत दोनों सम्प्रदायों के संकेत नीचे चित्रित करता हूं—

मन्त्रसंप्रदाय		श्लोक		कुण्डलिनी संप्रदाय
प्रमेयवर्ग का प्रमाणाग्नि में लय (र)	←	शिवनभासि विगलिताग्नः	→	प्राणप्रवाह का मध्य-धाम में लय होना
प्रमाण का मितप्रमाता में समावेश (क्ष)	←	कौण्डालिन्युन्मेषविकासितानन्दः	→	मूलाधार से कुण्डलिनी का उत्थान
मितप्रमाता का परप्रमाता में समावेश (ख्)	←	प्रज्वालितसकलरन्ध्रः	→	मूलाधार से ब्रह्मरंध्र तक ऊर्ध्वकुण्डलिनी का उदय
क्रियाशक्ति की तन्मयावस्था (ए)	←	कामिन्या हृदयकुहरमधिरूढः	→	ऊर्ध्वकुण्डलिनी की अवस्था में संकोचविकासदशा
बिन्दु सत्ता (अं)	←	योगी शून्य इवास्ते	→	समाधि-व्युत्थान का सामरस्य-पद
पिण्डनाथ मन्त्र का कालसंकर्षिणी-धाम	←	तस्य स्वयमेव योगिनीहृदयम्। हृदयनभोमण्डलगं समुच्चरत्यनलकोटिशतदीप्तम् ॥	→	जगदानन्ददशा

इस प्रकार प्रभुकृपा से मन्त्रवीर्य का स्वरूप-निरूपण जो अहं-परामर्श में, तथा अहंपरामर्श के प्रसरात्मक 'सौः'– इस पराबीज में और सहस्र रूप अहं परामर्श के प्रवेशात्मक 'रक्ष्रखें'- इस पिण्डनाथ में निहित है, विशद रूप से समाप्त हुआ।

जप- ध्यान- मुद्रा- होम का वास्तविक स्वरूप।

शाक्तोपाय- साधना में सिद्धहस्त योगी जब अकृत्रिम पूर्णाहन्ता में प्रविष्ट होकर जो कुछ शारीरिक चेष्टा करता है, जो कुछ व्यावहारिक कार्य करता है, अथवा जो भी प्राणों की चेष्टाओं का आचरण करता है - वह सारा इस योगी के लिये जप ही बन जाता है। भाव यह है इस योगी के लिए नियत रूप से मन्त्रों का उच्चारण करना जप नहीं है, बल्कि इस की बाह्य-व्यावहारिक चेष्टाएं ही जप बन जाती हैं क्योंकि ऐसे योगी के लिए सभी चेष्टाएं मन्त्ररूपता से ही स्फुरित होती हैं। कहा भी है—

श्लोकगाथादि यत्किंचि-
दादिमान्त्ययुतं यतः।
तस्माद्विदंस्तथा सर्वं
मन्त्रत्वेनैव पश्यति॥

अर्थात् ऐसा योगी श्लोक पढ़े अथवा कुछ वार्तालाप करे, अहंपरामर्श की एकता से ही समझ लेता है - अतः उस के लिये सारा बाह्य-व्यवहार मन्त्ररूप ही बना हुआ है। यहां यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि ऐसे योगी के लिए उठना, बैठना, खाना, सोना, सैर करना, हंसना, नहाना तथा वार्तालाप करना सारा कुछ परमार्थरूपता से व्रत ही बन जाता है, क्योंकि इस का सारा व्यवहार अहंपरामर्श की एकता के साथ ही चलता है। कहा भी है—

शरीरवृत्तिर्व्रतम्।

शारीरिक चेष्टाओं में रहना ही इस योगी के लिए पारमार्थिक व्रत है। इस के अतिरिक्त व्यावहारिक वार्तालाप ही इस योगी का वास्तविक जप* है।

---

* शिवसूत्रों में कहा है – 'कथा जपः' अर्थात् इस की बात चीत इत्यादि चेष्टा ही इस का तात्त्विक जप है, क्योंकि व्यावहारिक दशा में भी यह योगी प्राणापान-संचार में स्वात्मपरामर्श का अनुसंधान करता ही रहता है।

इस प्रकार इस शाक्तोपाय-सिद्ध योगी का वास्तविक जप का निरूपण करने के अनन्तर इस के तात्विक ध्यान का निर्णय भी किया जा रहा है। इस के ध्यान के संबन्ध में यह श्लोक है—

यदेव स्वेच्छया सृष्टं-
स्वाभाव्याद्बहिरन्तरा।
निर्मीयते तदेवास्य
ध्यानं स्यात्पारमार्थिकम्॥

अर्थात् बाह्य जगत् की सृष्टि के अनुसार यह योगी जो भी सुख दुःख-आदि मानसिक जगत में अनुभव करता है और जो नील-पीत-देवदत्त-चैत्र-मैत्र-इत्यादि को बाह्य-स्थिति में देखता है-वही सब इस योगी के लिए पारमार्थिक ध्यान बन जाता है। कारण यह है कि आन्तरिक जगद्वर्ती वस्तुओं की अनुभूति में तथा बाह्यजगद्वर्ती वस्तुवर्गों में इसे पारमार्थिक स्वरूपसाक्षात्कार ही प्राप्त होता है-इसी स्वरूपसाक्षात्कार-रूपता के बिना इस योगी को कोई भी वस्तु प्रतीत नहीं होती है, इस के लिये सारा कुछ स्वात्मरूपता का चमत्कार ही है। अत एव इस के अतिरिक्त नियत दशभुज-आदि का ध्यान करना ध्यान नहीं है। जो भी कुछ यह बाह्य जगत में अथवा मानसिक आन्तरिक जगत में देखता है वही इस का पारमार्थिक ध्यान कहलाया जाता है। इस विषय में कहा भी है—

निराकारे हि चिद्धाम्नि
विश्वाकृतिमये सति।
फलार्थिनां क्वचिदेव
ध्येयत्वेनाकृतिः स्थिता॥

अर्थात् तत्त्वदृष्टि से चिदात्मा का स्वरूप निराकार होने के कारण विश्वाकार है इस कारण उस के स्वरूप में नियताकाररूपता कदापि संभव नहीं है, जो भी कुछ है वह उसी का स्वरूप है। इस के उलट फलाकांक्षा से मलीमस साधक नियताकार-रूपता का ही आश्रय लेकर उस का ध्यान करते हैं, परन्तु तत्त्वदृष्टि से वह आनियन्ताकार विश्वाकार अथवा सर्वाकार ही समझ लेना चाहिये। कहा भी है—

यस्तु संपूर्णहृदयो
न फलं नाम वाञ्छति।
तस्य विश्वाकृतिर्देवी
सा चावच्छेदवर्जनात्॥

अर्थात् जो योगी चित्प्रकाशरूप हृदय में संपूर्णरूपता से प्रतिष्ठित हुआ होता है, अत एव चिदानन्द-सत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य फल की इच्छा नहीं रखता, उस के लिए तो स्वात्म-संवित्ति विश्वाकार ही बनी हुई है तथा उस की ध्यान-सत्ता तो अनवच्छिन्न ही है। इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि मुमुक्षु साधक के लिए ध्यान तो अनियताकार है और बुभुक्षु साधक के लिए नियताकार ही है। कहा भी है—

साधकानां बुभुक्षूणां विधिर्नियतियन्त्रितः।
मुमुक्षूणां तत्त्ववि[redacted]दां स एव तु निरर्गलः॥

अर्थात् सांसारिक भोगों की अभिलाषा रखने वालों के लिए ध्यान की विधि नियतरूपता से ही ठहरी है और तत्त्वज्ञानी मुमुक्षु-जनों के लिए ध्यान का क्रम निरर्गल अर्थात् अनियन्त्रित ही है। इस प्रकार ध्यान का तात्त्विक-स्वरूप निर्णय करके मुद्रा का वास्तविक स्वरूप भी निर्णय किया जा रहा है।

मुद्रा का अर्थ है जो 'मुदं'— चिदानन्दरूपता को ही राति'— प्रदान करती है। इस विषय में पाठक-जन ध्यान रखें कि शाक्तोपाय में निष्णात योगी अपनी शारीरिक स्थिति में ही चिदानन्दरूपता का अनुभव करता है। अत एव उस योगी के लिए शारीरिक-स्थिति में ठहरना ही वास्तविक मुद्रा में मुद्रित होना है। बाह्य-मुद्राओं में अभिमुद्रित होना उस के लिए कोई प्रयोजन नहीं रखता है। शारीरिक स्थिति में ठहरना ही उस की पारमार्थिक मुद्रा है। इस प्रकार मुद्रा की वास्तविकता का निरूपण समाप्त हुआ। अब इस योगी के वास्तविक होम का विचार किया जा रहा है।

शाक्तोपायसाधना में परिपक्व बना हुआ योगी इस प्रकार होमक्रिया करता है— मध्यधाम में विकसित चिदानन्दाग्नि की प्रचुर-अवस्था को प्राप्त हुई ज्वाला उस के सभी इन्द्रियों की प्रणालियों से प्रसारित होकर जाज्वल्यमानता को प्राप्त करती हैं। उसी समस्त इन्द्रियों के द्वार-देशों में प्रसारित हुई बोधाग्नि की ज्वाला में वह योगी सभी शब्दादि विषयों की आहुति डालता हुआ वास्तविक होमक्रिया को करता रहता है। कहा भी है—

सप्तेन्द्रियशिखाजाल-
जटिले जातवेदसि।
बोधाख्ये भाववर्गस्य
भस्मीभावोऽग्नितर्पणम्॥

अर्थात् आंखों के दो गोलक, नासिका के दो रन्ध्र, श्रोत्रेन्द्रिय के दो गोलक और मुख का एक द्वार— इस प्रकार इन सात इन्द्रियों के द्वारों से जो बोधाग्नि की देदीप्यमान ज्वाला सप्तविध-ज्वाला शिखाओं से प्रसारित होती है, उसी प्रज्वलित बोधाग्नि की चमचमाती हुई ज्वाला में सभी घट-पट-आदि भाववर्ग स्वाहा होकर उस बोधाग्नि की शिखा को प्रज्वलित करते हुए पारमार्थिक होम-क्रिया को सिद्ध करने का कारण बन जाते हैं। आशय यह है कि शैव योगी को होम-क्रिया की संपत्ति में बाह्य-इन्धन, घी, जौ, पुष्प तथा फल-इत्यादि सामग्री की अपेक्षा नहीं रहती। इस विषय में कहा भी है—

अन्तरिन्धनसंभार-
मनपेक्ष्यैव नित्यशः।
जाज्वलीत्यखिलाक्षौघ-
प्रसृतोग्रशिखः शिखी॥
बोधाग्नौ तादृशे भावा
विशन्तस्तस्य सन्महः।
उद्रेचयन्तो गच्छन्ति
होमकर्मनिमित्तताम्॥

अर्थात् शाक्तसमावेश से अलंकृत योगीराज के मध्यधाम से प्रसारित हुई बोधाग्नि की ज्वाला इन्द्रिय-द्वारों तक व्याप्त करती हुई चमकती हुई प्रादुर्भूत होती है। उस अवस्था में वह यह अनुभव करता है कि उस की देदीप्यमान बोधाग्नि में स्वयं अनायास ही समस्त भेदप्रथात्मक भावमण्डल लय होजाता है — इस प्रकार बाह्य इन्धन, घी, जौ आदि होम-सामग्री की अपेक्षा के विना ही उस की होम-क्रिया सिद्ध होती है। ऐसी होम-क्रिया का अनुभव करके योगी शिव के साथ तन्मय बन कर जीवन्मुक्ति-पदवी को प्राप्त करता है। ऐसी होम-क्रिया को विश्वमेध्ययज्ञ भी कहा है —

विश्वभावमयभावमण्डलम्
विश्वशक्तिमयशक्तिबर्हिषि।
जुह्वतो मम समोऽस्ति कोऽपरो
विश्वमेध्यमययज्ञयाजिनः॥

अर्थात् मैं शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध- इन पांच विषयों से पूर्ण समस्त भेदप्रथात्मक संसार-मण्डल को सर्वशक्तिसंपन्न स्वातन्त्र्य शक्ति रूपिणी परासंवित्ति-मय बर्हिष् में अर्थात् अग्नि में हवन करता हूं। इसलिए इस संसार में मेरे समान कौन दूसरा है, मैं तो विश्वमेध्य-मय महा यज्ञ को सदैव रचता हूं। इस प्रकार यहां वास्तविक जप, ध्यान, मुद्रा तथा होम के स्वरूपों का निरूपण* समाप्त हुआ।

---

* इस प्रकार की जपादि क्रियाओं को शैवाचार्यों ने भैरव-याग के नाम से अलंकृत किया है, जिस याग के अधिकारी परमेश्वर के शक्तिपात से पवित्रीकृत कतिपय-जन ही होते हैं। अर्थात् इस प्रकार का भैरव-याग अत्यन्त दुर्लभ है। कहा भी है —

एष यागविधिः कोऽपि
कस्यापि हृदि वर्तते।
यस्य प्रसीदेच्छिचक्रं
द्रागपश्चिमजन्मनः॥

इस याग-क्रिया के उपासक कहीं विरले ही जन होते हैं, जिन्हें परमेश्वर के शक्तिचक्र का समावेश हुआ होता है। इस याग के उपासक जीवन्मुक्त ही होते हैं।